भगवान श्री महावीर की २५वी निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष्य में

श्रीमद् देवेन्द्रसूरि विरचित

कर्मस्तव नामक

कर्मग्रन्थ [द्वितीय भाग]

[मूल, गाथार्थ, विशेषार्थ, विवेचन एवं टिप्पण तथा परिशिष्ट युक्त]

व्याख्याकार

मरुधरकेसरी, प्रवर्तक

मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज

सपादक

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

देवकुमार जैन

प्रकाशक

श्री मरुधरकेसरी साहित्यप्रकाशन समिति

जोधपुर—व्यावर

श्री मरुधरकेसरी साहित्यमाला का ३७वां पुष्प

पु[illegible] : कर्मग्रन्थ [द्वितीय भाग]

[illegible]ठ : २९०

सम्प्रेरक : विद्याविनोदी श्री सुकनमुनि

प्रकाशक : श्री मरुधरकेसरी [illegible]हित्य प्रकाशन समिति
पीपलिया बाजार, [illegible]र [राजस्थान]

प्रथम आवृत्ति : वीर निर्वाण स० २५०१
[२५वा वीर-निर्वाण शताब्दी वर्ष]
वि० स० २०३१, फाल्गुन पूर्णिमा
ई० सन् १९७५, मार्च

मुद्रक : श्रीचन्द सुराना [illegible]
दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स आगरा–४

मूल्य : १०) दस रुपये मात्र

सम्पादकीय

जैन दर्शन को समझने की कुन्जी है—'कर्मसिद्धान्त'। यह निश्चित है कि समग्र दर्शन एव तत्त्वज्ञान का आधार है आत्मा आत्मा की विविध दशाओ, स्वरूपो का विवेचन एव उसके परिवर्तनो का रहस्य उद्घाटित करता है 'कर्मसिद्धान्त'। इसलिये जैन दर्शन को समझने के लिए 'कर्मसिद्धान्त' को समझना अनिवार्य है।

कर्मसिद्धान्त का विवेचन करने वाले प्रमुख ग्रन्थों में 'श्रीमद् देवेन्द्रसूरि रचित' कर्मग्रन्थ अपना विशिष्ट महत्व रखते है। जैन साहित्य मे इनका अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। तत्व जिज्ञासु भी कर्मग्रन्थो को आगम की तरह प्रतिदिन अध्ययन एव स्वाध्याय की वस्तु मानते है।

कर्मग्रन्थो की सस्कृत टीका[illegible]जी महत्वपूर्ण है। इनके [illegible] गुजराती अनुवाद भी हो चके है। हिन्दी [illegible]मग्रन्थो का सर्वप्रथम विवेचन प्रस्तुत किया था विद्वद्वरेण्य मनीषी प्रवर महाप्राज्ञ प० सुखलालजी ने। उनकी शैली तुलनात्मक एव विद्वत्ताप्रधान है। प० सुखलालजी का विवेचन आज प्राय दुष्प्राप्य-सा है। कुछ समय से आशुकविरत्न गुरुदेव श्री मरुधर केसरीजी म० की प्रेरणा मिल रही थी कि कर्मग्रन्थो का आधुनिक शैली मे विवेचन प्रस्तुत करना चाहिए। उनकी प्रेरणा [illegible]देशन से यह सम्पादन प्रारम्भ हुआ। विद्याविनोदी श्री सुकनमुनिजी [illegible]गा से यह कार्य बड़ी गति के साथ आगे बढ़ता गया। श्री देवकुमार जी जैन का सहयोग मिला और कार्य कुछ ही समय मे आकार धारण करने योग्य बन गया।

इस सपादन कार्य मे जिन प्राचीन ग्रन्थ लेखको, टीकाकारो, विवेचन कर्त्ताओ तथा विशेषत. प० सुखलाल जी के ग्रथो का सहयोग प्राप्त हुआ

और इतने गहन ग्रन्थ का विवेचन सहजगम्य बन सका । मै उक्त सभी विद्वानो का असीम कृतज्ञता के साथ आभार मानता हूँ ।

श्रद्धेय श्री मरुधरकेसरी जी म० का समय-समय पर मार्गदर्शन, श्री रजतमुनिजी एव श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा एव साहित्यसमिति के अधिकारियो का सहयोग, विशेषकर समिति के व्यवस्थापक श्री सजानमल जी सेठिया की सहृदयता पूर्ण प्रेरणा व सहकार से ग्रन्थ के सपादन-प्रकाशन मे गतिशीलता आई है, मै हृदय से आभार स्वीकार करूँ—यह सर्वथा योग्य ही होगा ।

विवेचन मे कही त्रुटि, सैद्धान्तिक भूल, अस्पष्टता तथा मुद्रण आदि मे अशुद्धि रही हो तो उसके लिए मै क्षमाप्रार्थी हूँ और, हस-बुद्धि पाठको से अपेक्षा है कि वे स्नेहपूर्वक सूचित कर अनुगृहीत करेगे । भूल सुधार एव प्रमाद-परिहार मे सहयोगी बनने वाले अभिनन्दनीय होते है । बस इसी अनुरोध के साथ—

विनीत

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

आ मु ख

जैन दर्शन के सपूर्ण चिन्तन, मनन और विवेचन का आधार आत्मा है। आत्मा सर्वतन्त्र स्वतत्र शक्ति है। अपने सुख-दुख का निर्माता भी वही है और उसका फल भोग करने वाला भी वही है। आत्मा स्वयं मे अमूर्त है, परम विशुद्ध है, किन्तु वह शरीर के साथ मूर्तिमान वनकर अशुद्ध दशा मे ससार मे परिभ्रमण कर रहा है। स्वय परम आनन्द स्वरूप होने पर भी सुख-दुख के चक्र मे पिस रहा है। अजर अमर होकर भी जन्म-मृत्यु के प्रवाह में बह रहा है। आश्चर्य है कि जो आत्मा परम शक्तिसम्पन्न है, वही दीन-हीन, दुखी, दरिद्र के रूप मे ससार मे यातना और कष्ट भी भोग रहा है। इसका कारण क्या है ?

जैन दर्शन इस कारण की विवेचना करते हुए कहता है—आत्मा को सँसार मे भटकाने वाला कर्म है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है **कम्मं च जाई मरणस्स मूलं**—भगवान श्री महावीर का यह कथन अक्षरश सत्य है, तथ्य है। कर्म के कारण ही यह विश्व विविध विचित्र घटना चक्रो मे प्रतिपल परिवर्तित हो रहा है। ईश्वरवादी दर्शनो ने इस विश्ववैचित्र्य एव सुख-दुख का कारण जहा ईश्वर को माना है, वहाँ जैनदर्शन ने समस्त सुख-दुख एव विश्ववैचित्र्य का कारण मूलत जीव एव उसका मुख्य सहायक कर्म माना है। कर्म स्वतत्र रूप से कोई शक्ति नही है, वह स्वय मे पुद्गल है, जड है। किन्तु राग-द्वेप वश-वर्ती आत्मा के द्वारा कर्म किये जाने पर वे इतने वलवान और शक्तिसपन्न वन जाते है कि कर्त्ता को भी अपने वधन मे वाध लेते है। मालिक को भी नौकर की तरह नचाते है। यह कर्म की वडी विचित्र शक्ति है। हमारे जीवन और जगत के समस्त परिवर्तनो का यह मुख्य वीज कर्म क्या है, इसका स्वरूप क्या है ? इसके विविध परिणाम कैसे होते है ? यह वडा ही गम्भीर।

जैनदर्शन मे कर्म का वहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। कर्म का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अत्यत गहन विवेचन जैन आगमो मे और उत्तरवर्ती ग्रन्थो मे प्राप्त होता है। वह प्राकृत एव सस्कृत भापा मे होने के कारण विद्वद्भोग्य तो है, पर साधारण जिज्ञासु के लिए दुर्बोध है। थोकडो मे कर्मसिद्धान्त के विविध स्वरूप का वर्णन प्राचीन आचार्यों ने गूथा है, कठस्थ करने पर साधारण तत्त्व-जिज्ञासु के लिए अच्छा ज्ञानदायक सिद्ध होता है।

कर्मसिद्धान्त के प्राचीन ग्रन्थो मे कर्मग्रन्थ का महत्वपूर्ण स्थान है।श्रीमद् देवेन्द्रसूरि रचित इसके पाच भाग अत्यत ही महत्त्वपूर्ण है। इनमे जैनदर्शन सम्मत समस्त कर्मवाद, गुणस्थान, मार्गणा, जीव, अजीव के भेद-प्रभेद आदि समस्त जैनदर्शन का विवेचन प्रस्तुत कर दिया गया है। ग्रन्थ जटिल प्राकृत भाषा मे है और इसकी सस्कृत मे अनेक टीकाए भी प्रसिद्ध है। गुजराती मे भी इसका विवेचन काफी प्रसिद्ध है। हिन्दी भाषा मे इस पर विवेचन प्रसिद्ध विद्वान् मनीषी प० सुखलाल जी ने लगभग ४० वर्ष पूर्व तैयार किया था।

वर्तमान मे कर्मग्रन्थ का हिन्दी विवेचन दुष्प्राप्य हो रहा था, फिर इस समय तक विवेचन की शैली मे भी काफी परिवर्तन आ गया। अनेक तत्त्व-जिज्ञासु मुनिवर एव श्रद्धालु श्रावक परमश्रद्धेय गुरुदेव मरुधर केसरी जी म० सा० से कई वर्षों से प्रार्थना कर रहे थे कि कर्मग्रन्थ जैसे विशाल और गम्भीर ग्रन्थ का नये ढग से विवेचन एव प्रकाशन होना चाहिए। आप जैसे समर्थ शास्त्रज्ञ विद्वान एव महास्थविर सत ही इस अत्यन्त श्रमसाध्य एव व्यय-साध्य कार्य को सम्पन्न करा सकते है। गुरुदेव श्री का भी इस ओर आकर्षण था। शरीर काफी वृद्ध हो चुका है। इसमे भी लम्बे-लम्बे विहार और अनेक सस्थाओ व कार्यक्रमो का आयोजन ' व्यस्त जीवन मे आप १०-१२ घटा से अधिक समय तक आज भी शास्त्र स्वाध्याय, साहित्य सर्जन आदि मे लीन रहते है। गत वर्ष गुरुदेव श्री ने इस कार्य को आगे वढाने का सकल्प किया। विवेचन लिखना प्रारम्भ किया। विवेचन को भाषा-शैली आदि दृष्टियो से सुन्दर एव रुचिकर वनाने तथा फुटनोट, आगमो के उद्धरण संकलन, भूमिका लेखन आदि कार्यों का दायित्व प्रसिद्ध विद्वान श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना को सौपा गया।

श्री सुराना जी गुरुदेव श्री के साहित्य एव विचारो से अतिनिकट सम्पर्क मे है। गुरुदेव के निर्देशन मे उन्होने अत्यधिक श्रम करके यह विद्वत्तापूर्ण तथा सर्व साधारण जन के लिए उपयोगी विवेचन तैयार किया है। इस विवेचन मे एक दीर्घकालीन अभाव की पूर्ति हो रही है। साथ ही समाज को एक सास्कृतिक एव दार्शनिक निधि नये रूप मे मिल रही है, यह अत्यधिक प्रसन्नता की वात है।

मुझे इस विषय मे विशेष रुचि है। मै गुरुदेव को तथा सपादक बन्धुओ को इसकी सपूर्ति के लिए समय-समय पर प्रेरित करता रहा। प्रथम भाग के पश्चात् यह द्वितीय भाग आज जनता के समक्ष आ रहा है। इसकी मुझे हार्दिक प्रसन्नता है।

—सुकन मुनि

प्रकाशकीय

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति के विभिन्न उद्देश्यो मे एक प्रमुख एव रचनात्मक उद्देश्य है—जैन धर्म एव दर्शन से सम्वन्धित साहित्य का प्रकाशन करना। सस्था के मार्गदर्शक परमश्रद्धेय श्री मरुधर केसरीजी म० स्वय एक महान विद्वान, आशुकवि तथा जैन आगम तथा दर्शन के मर्मज्ञ है और उन्ही के मार्गदर्शन मे सस्था की विभिन्न लोकोपकारी प्रवृत्तिया चल रही है। गुरुदेव श्री साहित्य के मर्मज्ञ भी है, अनुरागी भी है। उनकी प्रेरणा से अव-तक हमने प्रवचन, जीवन चरित्र, काव्य, आगम तथा गम्भीर विवेचनात्मक ग्रन्थो का प्रकाशन किया है। अब विद्वानो एव तत्त्वजिज्ञासु पाठको के सामने हम उनका चिर प्रतीक्षित ग्रन्थ 'कर्मग्रन्थ' विवेचन युक्त प्रस्तुत कर रहे है।

कर्मग्रन्थ जैन दर्शन का एक महान ग्रथ है। इनके छह भागो मे जैन तत्त्व-ज्ञान का सर्वांग विवेचन समाया हुआ है। पूज्य गुरुदेव श्री के निर्देशन मे प्रसिद्ध लेखक-सपादक श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना एव उनके सहयोगी श्री देव कुमारजी जैन ने मिलकर इसका सुन्दर सम्पादन किया है। तपस्वीवर श्री रजत-मुनि जी एव विद्याविनोदी श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा से यह विराट कार्य समय पर सुन्दर ढग से सम्पन्न हो रहा है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन श्रीमान् अभयराज जी बोरुदिया (बलुदा) की स्मृति मे श्रीमान् चपालाल जी वोरुदिया (जालना) की प्रेरणा से किया जा रहा है। हम सभी विद्वानो, मुनिवरो एव सहयोगी उदार गृहस्थो के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हुए आशा करते है कि अतिशीघ्र क्रमश अन्य भागो मे हम सम्पूर्ण कर्मग्रन्थ विवेचन युक्त पाठको की सेवा मे प्रस्तुत करेगे। प्रथम भाग कुछ समय पूर्व ही पाठको के हाथो मे पहुँच चुका है। विद्वानो एव जिज्ञासु पाठको ने उसका स्वागत किया है। अव यह दूसरा भाग पाठको के समक्ष प्रस्तुत है।

विनीत मन्त्री—

श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति

उदार दाता श्रीमान् अभयराज जी बोरुंदिया

श्रीमान् अभयराजजी शा० बोरु दिया, वलुंदा (मारवाड़) निवासी एक उदार धर्मप्रेमी सज्जन थे। आप श्रीमान् धूलचन्द जी साहव के सुपुत्र तथा मगलचन्द जी साहव के दत्तक पुत्र थे। श्रीमान् सेठ विजयराज जी शा० मूथा (वलु दा) की दुकान पर अनेक वर्षो तक मुनीम रहे।

आपके जीवन मे सरलता और साधु-संतो के प्रति अनन्य भक्ति-भावना थी। परम श्रद्धेय गुरुदेव श्री मरुधर केसरी जी म० के आप अनन्य भक्त थे। धार्मिक कार्यो में आपकी विशेष अभिरुचि थी।

आप अपने कार्यवश पिछले दिनो व्यावर गये थे। काल अचानक आता है, वह पहले किसी को सूचित भी कहाँ करता है। आप व्यावर से वापस ही नही लौटे, वही आकस्मिक ढग से आपका स्वर्गवास हो गया। निधन के समाचार पाकर आपके निकट के भाई श्रीमान् चपालाल जी वोरु दिया जालना से आये। और्ध्वदेहिक कृत्य के वाद आपकी सपत्ति जो कि उनके पश्चात् श्री चपालालजी की होती थी, किन्तु उदारचेता श्रीमान् चपालाल जी ने उस सपत्ति को, जो लगभग ३० हजार की थी, गाव के विकास कार्यो के लिए तथा जरूरतमद लोगो की मदद के लिए गाव के मुखिया लोगो को सुपुर्द कर दी। आपकी सपत्ति मे से एक अच्छी राशि कर्मग्रन्थ द्वितीय भाग के प्रकाशनार्थ सस्था को प्रदान की है। श्री अभयराज जी सा० के भतीजे को भी जो कि साधारण स्थिति के है, आपने उस संपत्ति से सहायता प्रदान की है। इस प्रकार सपत्ति का सदुपयोग करने का एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। धर्मभूषण सेठ श्रीमान् चंपालालजी वोरु दिया जालना निवासी स्वय एक उदारमना धर्मप्रेमी सज्जन है, जो सामाजिक एव धार्मिक कार्यो में अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग करते रहते है। उन्हीकी प्रेरणा से कर्मग्रन्थ का यह द्वितीय

भाग स्व० श्री अभयराज जी वोरुंदिया की स्मृति मे प्रकाशित किया जा रहा है।

हमारी सस्था स्व० सेठ श्री अभयराज जी की स्मृति मे कर्मग्रन्थ के प्रकाशन मे सहयोग प्रदान करने हेतु श्रीमान् चपालाल जी (जालना) से हार्दिक धन्यवाद के साथ आशा करती है कि भविष्य मे भी इसी प्रकार धार्मिक एवं सामाजिक कार्यो मे सपत्ति का सदुपयोग करते रहेगे।

—मानमल चौरडिया

मत्री—**श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन**
समिति
जोधपुर—व्यावर

विषयानुक्रमणिका

□

प्रस्तावना

कर्मसिद्धान्त मानने का आधार

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष यह चार पुरुपार्थ है। इनके वारे मे अनेक चिन्तको ने अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार व्यक्त किए है। जिनकी दृष्टि मे यह दृश्यमान जगत ही सब कुछ है, उन्होने तो अर्थ और काम पुरुषार्थ को मुख्य माना और किसी न किसी प्रकार से सुख प्राप्त करना जीवन का लक्ष्य निर्धारित किया। अतएव वे ऐसा कोई सिद्धान्त मानने के लिए वाध्य नही थे और न उत्सुक ही, जो अच्छे वुरे जन्मान्तर या परलोक की प्राप्ति कराने वाला हो, यह पक्ष चार्वाक दर्शन परम्परा के नाम से प्रख्यात हुआ। जिसका एकमात्र लक्ष्य है—

यावज्जीवेद् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

लेकिन इसके साथ ही यह भी चिंतन व्यापक रहा है और आज भी है, जो दृश्यमान जगत के अतिरिक्त अन्य कोई श्रेष्ठ या कनिष्ठ लोक, मृत्यु के वाद जन्मान्तर की सत्ता भी स्वीकार करता है। अतएव धर्म और मोक्ष पुरुपार्थ को भी स्वीकार किया गया। परलोक और पुनर्जन्म मे सुखप्राप्ति धर्म और मोक्ष पुरुपार्थ माने विना सम्भव नही है। उसका मन्तव्य है कि 'यदि कर्म न हो तो जन्म-जन्मातर, इहलोक-परलोक का सम्बन्ध घट नही सकता है। अतएव पुनर्जन्म की मान्यता के आधारभूत कर्मतत्व का मानना आवश्यक है।' इस प्रकार की मान्यता वाले पुनर्जन्मवादी कहलाते है।

कर्मसिद्धान्त की मान्यता : दो विचारधाराएँ

इन कर्मसिद्धान्त वादियो मे दो विचारधाराएं दृष्टिगोचर होती है।

एक विचारधारा यह है कि कर्म के फलस्वरूप जन्मान्तर और परलोक अवश्य है, किंतु श्रेष्ठ लोक और श्रेष्ठ जन्म के लिए कर्म भी श्रेष्ठ होना चाहिए। श्रेष्ठ लोक के रूप मे उनकी कल्पना स्वर्ग तक ही सीमित है। वे धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुपार्थो को मानने वाले है। उनकी दृष्टि मे मोक्ष का पुरुपार्थ रूप मे कोई स्थान नही है। इसलिए इनको त्रिपुरुपार्थवादी कहा जाता है।

इन त्रिपुरुषार्थवादी विचारको का सक्षेप मे मन्तव्य इस प्रकार है कि धर्म—शुभकर्म का फल स्वर्ग और अधर्म—अशुभकर्म का फल नरक आदि है। यह धर्माधर्म ही पुण्य-पाप या अदृष्ट कहलाते है और इन्हीके द्वारा जन्म-जन्मातर, स्वर्ग-नरक की प्राप्ति रूप चक्र चलता रहता है। जिसका उच्छेद शक्य नही है, किन्तु इतना ही सभव है कि यदि उत्तम लोक और उत्तम सुख पाना है तो धर्म पुरुषार्थ करो। अधर्म–पाप हेय है और धर्म–पुण्य उपादेय है। धर्म और अधर्म के रूप मे इनकी मान्यता है कि समाजमान्य शिष्ट आचरण धर्म और निन्द्य आचरण अधर्म है। अतएव सामाजिक सुव्यवस्था के लिए शिष्ट आचरण करना चाहिए। इस विचारधारा की प्रवर्तक धर्म के रूप मे प्रसिद्धि हुई। जहाँ भी प्रवर्तक धर्म का उल्लेख किया जाता है, वह इन त्रिपुरुषार्थवादी चिन्तको के मतव्य का सूचक है। ब्राह्मण-मार्ग, मीमासक या कर्मकाण्डी के नाम से यह त्रिपुरुपार्थवादी प्रसिद्ध है।

इसके विपरीत कर्मतत्ववादी दूसरे समर्थको का मतव्य उक्त प्रवर्तक धर्मवादियो, त्रिपुरुषार्थवादियो से नितात भिन्न है। वे मानते है कि पुनर्जन्म का कारण कर्म अवश्य है। शिष्ट-सम्मत एव विहित कर्मो (कार्यो) के आचरण से स्वर्ग प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु स्वर्ग की प्राप्ति करने मे ही सतोप मानना जीव का लक्ष्य नही है और न इसमे आत्मा के पुरुपार्थ की पूर्णता है। इसमे आत्मा के स्वतत्र, शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि कहाँ है? अतएव आत्म-स्वरूप की उपलब्धि एव पुरुषार्थ की पूर्णता के लिए अधर्म–पाप की तरह धर्म–पुण्य भी सर्वथा हेय है। इनके अनुसार चौथा मोक्ष पुरुषार्थ स्वतत्र है और मोक्ष ही एकमात्र आत्मा का लक्ष्य है। मोक्ष के लिए पुण्यरूप या पापरूप दोनो प्रकार के कर्म हेय है। यह भी नही है कि कर्म का उच्छेद नही किया

जा सकता है। प्रयत्न के द्वारा कर्म का उच्छेद शक्य है। यह विचारधारा निवर्तक धर्म के रूप मे प्रख्यात हुई। इसकी दृष्टि सामाजिक व्यवस्था तक ही सीमित न होकर मुख्य रूप से व्यक्ति-विकासवादी (आत्म-विकासवादी) है। व्यक्ति अपना विकास करे। परम लक्ष्य की प्राप्ति अपने पुरुपार्थ के वल पर कर सकता है।

निवर्तकधर्म का कर्म विषयक मंतव्य

निवर्तकधर्म के मन्तव्यानुसार आत्यन्तिक कर्मनिवृत्ति शक्य है और वह स्वय आत्मा के प्रयत्नो द्वारा ही सम्भव होती है। कर्म की उत्पत्ति के मूल कारण का सकेत करते हुए कहा गया है कि धर्म–पुण्य और अधर्म–पाप के मूल कारण प्रचलित सामाजिक प्रवृत्ति-निवृत्ति, विधि-निपेध नही है, अपितु अज्ञान और राग-द्वेप है। कैसा भी शिष्ट-सम्मत सामाजिक आचरण क्यो न हो, अगर वह अज्ञान एव राग-द्वेष मूलक है तो उससे अधर्म की ही उत्पत्ति होगी। पुण्य-पाप का यह भेद तो स्थूलदृष्टि वालो के लिए है। वस्तुत पुण्य एव पाप सव अज्ञान एव राग-द्वेप मूलक होने से अधर्म एव हेय है। इसलिए आत्मस्वातन्त्र्य के लिए अज्ञान एव राग-द्वेप मूलक समाजविहित शिष्ट कर्म भी अधर्म मूलक पाप कर्मो की तरह त्याज्य है और उनका उच्छेद होना आवश्यक है।

जव निवर्तकधर्मवादियो ने कर्म का उच्छेद और मोक्ष को मुख्य पुरुपार्थ मान लिया तव कर्म के उच्छेदक और मोक्ष के जनक कारणो को निश्चित करना आवश्यक हो गया। अतएव कर्मप्रवृत्ति अज्ञान एव राग-द्वेप जनित होने से उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति का मुख्य उपाय अज्ञान-विरोधी सम्यग्ज्ञान और राग-द्वेप विरोधी समभाव (सम्यक् चारित्र), सयम को साधन माना तथा स्वाध्याय, तप, ध्यान आदि उपायो को सम्यग्ज्ञान और सयम के सहयोगी रूप मे स्वीकार किया।

निवर्तकधर्मवादियो ने जव मोक्ष के स्वरूप और उसकी प्राप्ति के साधनो के वारे मे गहरा विचार किया तव उसके साथ ही कर्मतत्त्व का चिन्तन भी करना पडा। उन्होंने कर्म, उसके भेद तथा भेदो की परिभाषाए भी निश्चित की। कार्य-कारण की दृष्टि से कर्मो का वर्गीकरण किया। उनकी फल देने की

शक्ति एव काल-मर्यादा आदि का विवेचन किया। कर्मों का पारस्परिक सम्वन्ध, आत्मा की शक्ति आदि का भी विचार एव इससे सम्वन्धित और भी जो कुछ विचार आवश्यक थे, सभी का क्रमवद्ध व्यवस्थित विवेचन किया। इस प्रकार निवर्तकधर्मवादियो के कर्म विषयक व्यवस्थित चिन्तन से एक अच्छे कर्मशास्त्र का निर्माण हो गया।

निवर्तकधर्मवादियों में विचारभिन्नताएं

कर्म सिद्धान्त के सम्वन्ध मे निवर्तक धर्मवादियो का सामान्य मतव्य तो यह है कि किसी न किसी प्रकार कर्मो के मूल को नष्ट करके उस अवस्था को प्राप्त करना, जिससे पुन जन्म-मरण के चक्र मे न आना पडे। कर्मो की आत्यन्तिक निवृत्ति से आत्मा अपने स्वरूप की उपलव्धि करके परम अवस्था को प्राप्त कर ले। लेकिन तत्त्वचिन्तन की भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओ के कारण उनमे विभिन्नताएँ देखी जाती है। इनमे मुख्यतया तीन प्रकार देखे जाते है—(१) परमाणुवादी, (२) प्रधानवादी, और (३) परमाणवादी होकर भी प्रधान की छाया वाला। इनमे परमाणुवादी मोक्ष समर्थक होने पर भी प्रवर्तक धर्म के उतने विरोधी नही, जितने दूसरे और तीसरे प्रकार के विचारक है। यह पक्ष न्याय-वैशेषिक दर्शन के रूप मे प्रसिद्ध हुआ।

दूसरा पक्ष प्रधानवादी है। यह पक्ष आत्यन्तिक कर्मनिवृत्ति का समर्थक होने से प्रवर्तकधर्म. को हेय वतलाता है। यह पक्ष साख्य-योग के नाम से प्रसिद्ध है। इसी की तत्त्वज्ञान की भूमिका के आधार पर वेदान्त-दर्शन और सन्यास मार्ग की प्रतिष्ठा हुई।

तीसरा पक्ष प्रधान-छायापन्न परमाणुवादियो का है। यह पक्ष भी दूसरे पक्ष की तरह प्रवर्तकधर्म का आत्यन्तिक विरोधी है जो जैनदर्शन के नाम से विख्यात है। वौद्ध-दर्शन भी प्रवर्तकधर्म का विरोधी माना जाता है, लेकिन वह दूसरे और तीसरे पक्ष के मिश्रण का एक उत्तरवर्ती विकास कहलाता है।

वौद्ध और साख्य दर्शन मे कर्मतत्त्व के वारे मे कुछ विचार अवश्य किया गया है, लेकिन वाद मे उन्होने ध्यान-मार्ग का अनुसरण करके उस पर ही अपनी चिन्तनधारा केन्द्रित कर ली। जिससे उनका दृष्टिकोण एकागी वन गया।

इसका परिणाम यह हुआ कि कर्म साहित्य मे उनकी देन नगण्य-सी रह गई और जो कुछ है भी, वह चिन्तन को विकसित करने मे सहायक नही बनती है। लेकिन जैन-चिन्तको ने अन्य-अन्य विषयो के चिन्तन की तरह कर्मतत्त्व के बारे मे भी गहन विचार और सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन करके भारतीयदर्शन को महान देन दी है, जो अपने आप मे अनूठी है, अद्वितीय है ।

जैनदर्शन की कर्मतत्त्व सम्बन्धी रूपरेखा

जैनदर्शन मे कर्म का लक्षण, उसके भेद, प्रभेद आदि का दिग्दर्शन कराते हुए प्रत्येक कर्म की बध, सत्ता और उदय यह तीन अवस्थाये मानी है। जैनेतर दर्शनो मे भी कर्म की इन तीन अवस्थाओ का वर्णन मिलता है। उनमे बध को 'क्रियमाण', सत्ता को 'सचित' और उदय को 'प्रारब्ध' कहा है। परन्तु जैनदर्शन मे ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मो और उनके प्रभेदो के द्वारा ससारी आत्मा का अनुभवगम्य विभिन्न अवस्थाओ का जैसा स्पष्ट व सरल विवेचन किया है, वैसा अन्य दर्शनो मे नही है। पातजल दर्शन मे भी कर्म के जाति, आयु और भोग—यह तीन तरह के विपाक बतलाए है, लेकिन जैनदर्शन के कर्म सम्बन्धी विचारो के सामने वह वर्णन अस्पष्ट और अकिंचित्कार प्रतीत होता है।

जैनदर्शन मे आत्मा और कर्म का लक्षण स्पष्ट करते हुए आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध कैसे होता है? उसके कारण क्या है? किस कारण से कर्म मे कैसी शक्ति उत्पन्न हो रही है? आत्मा के साथ कर्म सम्बन्ध किस समय तक रहता है, उनकी कम से कम और अधिक से अधिक कितनी काल-मर्यादा है? कर्म कितने समय तक फल देने मे असमर्थ रहता है? कर्म के फल देने का समय बदला भी जा सकता है या नही और यदि बदला भी जा सकता है तो उसके लिए कैसे आत्म-परिणाम आवश्यक है? कर्मशक्तियो की तीव्रता को मन्दता मे और मन्दता को तीव्रता मे परिणमित करने वाले कौन से आत्म-परिणाम है? स्वभावत शुद्ध आत्मा भी कर्म के प्रभाव से किस-किस प्रकार मलिन है और कर्म के आवरणो से आवृत होने पर भी आत्मा अपने स्वभाव से च्युत क्यो नही होती? इत्यादि कर्मो के बध, सत्ता और उदय की अपेक्षा उत्पन्न होने वाले सख्यातीत प्रश्नो का सयुक्तिक, विशद, विस्तृत स्पष्टीकरण जैन कर्मसाहित्य मे किया गया है।

जैन कर्मशास्त्र मे कर्म की जिन विविध अवस्थाओ का वर्णन किया गया है, उनका सामान्यतया वध, सत्ता, उदय, उदीरणा, उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण, उपशमन, निधत्ति, निकाचन और अवाध इन ग्यारह भेदो मे वर्गीकरण कर सकते है। इस वर्गीकरण मे कर्म की शक्ति के साथ आत्मा की क्षमता का पूर्णरूपेण स्पष्टीकरण किया गया है। जिससे वह जन्म-मरण के चक्र का भेदन कर अपने स्वरूप को प्राप्त कर उसमे स्थित हो जाती है।

जैनदर्शन की उक्त कर्म विपयक सक्षिप्त रूपरेखा के आधार पर अव 'कर्मस्तव' द्वितीय कर्मग्रन्थ मे वर्णित विषय के वारे मे विचार करते है। इस ग्रन्थ मे मुख्य रूप से आत्मशक्ति के विकास का क्रम और उस विकास पथ पर वढती हुई आत्मा की विशुद्धता के कारण क्रम-क्रम से कर्मो की वध, सत्ता और उदयावस्था की हीनता का दिग्दर्शन कराया है।

द्वितीय कर्मग्रन्थ की रचना का उद्देश्य

'कर्मविपाक' नामक प्रथम कर्मग्रन्थ मे ग्रन्थकार ने कर्म की मूल तथा उत्तर प्रकृतियो एव उनकी वन्ध, उदय-उदीरणा, सत्ता योग्य सख्या का सकेत किया है और इस द्वितीय कर्मग्रन्थ मे उन प्रकृतियो की वन्ध, उदय-उदीरणा, सत्ता के लिए जीव की योग्यता का वर्णन किया गया है।

विषय वर्णन की शैली

संसारी जीव अनन्त है। अत किसी एक व्यक्ति के आधार से उन सव की वधादि सम्वन्धी योग्यता का दिग्दर्शन नही कराया जा सकता है और न यह सभव भी है। इसके अतिरिक्त एक व्यक्ति की कर्मवधादि सम्वन्धी योग्यता भी सदा एक-समान नही रहती है, क्योकि प्रतिक्षण परिणामो और विचारों के वदलते रहने के कारण वंधादि सम्वन्धी योग्यता भी प्रतिसमय परिवर्तित होती रहती है। अतएव अध्यात्मज्ञानियो ने ससारी जीवो के उनकी आभ्यन्तर शुद्धिजन्य उत्क्रान्ति, अशुद्धि-जन्य अपक्राति के आधार पर अनेक वर्ग किए है। इस वर्गीकरण को शास्त्रीय परिभाषा मे 'गुणस्थान क्रम' कहते है।

गुणस्थान का यह क्रम ऐसा है कि जिससे उन विभागो मे सभी ससारी जीवो का समावेश एव वन्धादि सम्वन्धी उनकी योग्यता को वताना सहज हो जाता है और एक जीव की योग्यता जो प्रतिसमय वदला करती है, उसका

भी निदर्शन किसी न किसी विभाग द्वारा किया जा सकता है। इन गुणस्थानों का क्रम संसारी जीवो की आन्तरिक शुद्धि के तरतम भाव के मनोविश्लेषणात्मक परीक्षण द्वारा सिद्ध करके निर्धारित किया गया है। इससे यह बताना और समझना सरल हो जाता है कि अमुक प्रकार की आतरिक शुद्धि या अशुद्धि वाला जीव इतनी कर्म प्रकृतियो के बंध, उदय, उदीरणा और सत्ता का अधिकारी है।

गुणस्थानों का संक्षेप में विवेचन

गुणो (आत्मशक्तियो) के स्थानो को अर्थात् आत्मा के विकास की क्रमिक अवस्थाओ को गुणस्थान कहते है। जैनदर्शन मे 'गुणस्थान' यह एक पारिभाषिक शब्द है और उसका अर्थ आत्मशक्तियों के आविर्भाव—उनके शुद्ध कार्य रूप मे परिणत होते रहने की तर-तम-भावापन्न अवस्था से है।

आत्मा का यथार्थ स्वरूप शुद्ध चेतना और पूर्ण आनन्दमय है, लेकिन जब तक उस पर तीव्र कर्मावरण छाया हुआ हो तब तक उसका असली स्वरूप दिखाई नही देता है। जैसे-जैसे आवरण शिथिल या नष्ट होते है वैसे-वैसे उसका असली स्वरूप प्रगट होता जाता है। जब आवरणो की तीव्रतम स्थिति होती है तब आत्मा अविकसित दशा के निम्नतम स्तर पर होती है। यह आत्मा की निम्नतम स्तर की स्थिति मानी जा सकती है और जब आवरण बिल्कुल नष्ट हो जाते है तब आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप की पूर्णता मे स्थिर हो जाती है। जो उसका पूर्ण स्वभाव है। उच्चतम सर्वोच्च अप्रतिपाती स्थिति है।

आत्मा पर से जैसे-जैसे कर्मों के आवरण की तीव्रता कम होती जाती है, वैसे-वैसे आत्मा अपनी प्राथमिक भूमिका को छोडकर शनै-शनै शुद्ध स्वरूप का लाभ करती हुई चरम उच्च भूमिका की ओर गमन करती है। इस गमनकालीन स्थिति मे आत्मा अनेक प्रकार की उच्च-नीच परिणामजन्य स्थितियो का अनुभव करती है, जिससे उत्थान की ओर अग्रसर होते हुए भी पुनः निम्न भूमिका पर भी आ पहुंचती है और पुनः उस निम्न भूमिका से अपने परिणाम-विशेषो से उत्थान की ओर अग्रसर होती है। यह क्रम चलता रहता है लेकिन अन्त मे आत्मशक्ति की प्रबलता से उन स्थितियो को पार करते हुए चरम लक्ष्य को प्राप्त कर ही लेती है। प्रारम्भिक और अन्तिम तथा मध्य को

सक्राति कालीन इन सब अवस्थाओ का वर्गीकरण करके उसके चौदह विभाग किए है, जो चौदह गुणस्थान कहलाते है ।

कर्मो मे मोहकर्म प्रधान है अतः इसका आवरण प्रमुखतम है अर्थात् जब तक मोह बलवान और तीव्र है तब तक अन्य सभी कर्मावरण सबल और तीव्र बने रहते है और मोह के निर्बल होते ही अन्य आवरणो की स्थिति भी निर्बल बनती जाती है। इसलिए आत्मा के विकास मे मुख्य बाधक मोह की प्रबलता और मुख्य सहायक मोह की निर्बलता है। इसी कारण आत्मा के विकास की यह क्रमगत अवस्थाये—गुणस्थान मोहशक्ति की उत्कटता-मन्दता और अभाव पर आधारित है ।

मोह की प्रधान शक्तियाँ दो है—दर्शनमोह एव चारित्रमोह। इनमे से प्रथम शक्ति आत्मा को दर्शन अर्थात् स्वरूप-पररूप का निर्णय, विवेक नही होने देती है। दूसरी शक्ति आत्मा को विवेक प्राप्त कर लेने पर भी तदनुसार प्रवृत्ति नही करने देती है। व्यवहार मे भी यही देखा जाता है कि वस्तु का यथार्थ दर्शन-बोध होने पर उस वस्तु को पाने या त्यागने की चेष्टा की जाती है। आध्यात्मिक विकासगामी आत्मा के लिए भी यही दो मुख्य कार्य है—स्वरूप दर्शन और तदनुसार प्रवृत्ति, यानी स्वरूप मे स्थित होना। इन दोनों शक्तियो मे से स्वरूप-बोध न होने देने वाली शक्ति को **दर्शनमोह** और स्वरूप मे स्थित न होने देने वाली शक्ति को **चारित्रमोह** कहते है। इनमे दर्शनमोह रूप प्रथम शक्ति प्रबल हो तब तक दूसरी चारित्रमोह रूप शक्ति कभी निर्बल नही हो सकती है। प्रथम शक्ति के मद, मदतम होने के साथ ही दूसरी शक्ति भी तदनुरूप होने लगती है। स्वरूप-बोध होने पर स्वरूप-लाभ प्राप्ति का मार्ग सुगम हो जाता है।

आत्मा की अधिकतम आवृत अवस्था प्रथम गुणस्थान है। जिसे मिथ्यात्व गुणस्थान कहते है। इसमे मोह की दोनो शक्तियो का प्रबलतम प्रभाव होने के कारण आत्मा आध्यात्मिक स्थिति से सर्वथा निम्न दशा मे रहती है। फिर भी उस शक्ति का अनन्तवा भाग उद्घाटित रहता है। इस भूमिका मे आत्मा भौतिक वैभव का उत्कर्ष कितना भी कर ले लेकिन स्वरूप-बोध की दृष्टि से प्राय शून्य रहती है। लेकिन विकास करना तो आत्मा का स्वभाव है, अतएव जानते-अनजानते जब मोह का आवरण कम होने लगता है तब विकास की

ओर अग्रसर हो जाती है और तीव्रतम राग-द्वेष को मंद करती हुई मोह की प्रथम शक्ति को छिन्न-भिन्न करने योग्य आत्मबल प्रगट कर लेती है। यही विकास के प्रारम्भ होने की भूमिका है।

स्वरूपबोध का मार्ग प्रशस्त होने पर भी कभी आत्मा के परिणाम ऊर्ध्व-मुखी होते है, कभी अधोमुखी बनते है। यह क्रम भी तब तक चलता रहता है जब तक आत्म-परिणामो मे स्थायित्व नहीं आ जाता। यह स्थायित्व दो प्रकार से प्राप्त होता है—या तो स्वरूपबोध के आवरण का पूर्णतया क्षय हो या वह आवरण शमित (शात) हो जाये। शमित होने की स्थिति मे तो निमित्त मिलने पर आवरण अपना प्रभाव दिखाता है, लेकिन क्षय होने पर स्वरूपबोध का सतत प्रवाह बना रहता है।

दर्शनशक्ति के विकास के बाद चारित्रशक्ति के विकास का क्रम आता है। मोह की प्रधान शक्ति—दर्शनमोह को शिथिल करके स्वरूपदर्शन कर लेने के बाद भी जब तक दूसरी शक्ति चारित्रमोह को शिथिल न किया जाये तब तक आत्मा की स्वरूपस्थिति नही हो सकती है। इसलिए वह मोह की दूसरी शक्ति को मद करने के लिए प्रयास करती है। जब वह उस शक्ति को अशत शिथिल कर पाती है, तब उसकी उत्क्रान्ति और भी ऊर्ध्वमुखी होने लगती है। जैसे-जैसे यह स्थिति वृद्धिगत होती है, वैसे-वैसे स्वरूपस्थिरता भी बढती जाती है।

इस अवस्था मे भी दर्शनमोह को शमित करने वाली आत्मा स्वरूपबोध से पतित होकर पुन अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे आ सकती है और तब पूर्व मे जो कुछ भी पारिणामिक शुद्धि आदि की थी, वह सब व्यर्थ-सी हो जाती है। लेकिन जिसने दर्शनमोह का सर्वथा नाश कर दिया है, वह आत्मा तो पूर्णता को प्राप्त करके ही विराम लेती है।

गुणस्थान के इन चौदह भेदो मे पहले की अपेक्षा दूसरे मे, दूसरे की अपेक्षा तीसरे मे इस प्रकार पूर्व-पूर्ववर्ती गुणस्थान की अपेक्षा पर-परवर्ती गुणस्थान मे विकास की मात्रा अधिक होती है।[१] विकास के इस क्रम का

१ यह कथन सामान्य दृष्टि से है। वैसे दूसरा गुणस्थान तो विकास की भूमिका नही किन्तु ऊपर से पतित हुई आत्मा के क्षणिक अवस्थान का ही सूचक है।

निर्णय आत्मिक स्थिरता की न्यूनाधिकता पर अवलवित है। स्थिरता का तारतम्य दर्शन और चारित्र मोह शक्ति की शुद्धि की तरतमता पर निर्भर है। पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थान मे आत्मा की दर्शन और चारित्र शक्ति का विकास इसलिए नही हो पाता कि उनमे उनके प्रतिबधक कारणो की अधिकता रहती है। चतुर्थ आदि गुणस्थानो से वे प्रतिबधक सस्कार मद होते जाते है, जिससे उन-उन गुणस्थानो मे शक्तियो के विकास का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। इन प्रतिबधक सस्कारो को कपाय कहते है।

इन कषायो के मुख्य रूप मे चार विभाग किए गए है। ये विभाग काषायिक सस्कारो की फल देने की तरतम शक्ति पर आधारित है। इनमे से प्रथम विभाग—दर्शन मोहनीय और अनन्तानुवन्धी कपाय का है। यह विभाग दर्शनशक्ति का प्रतिबधक होता है। शेष तीन विभाग जिन्हे क्रमश अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन कहते है, चारित्रशक्ति के प्रतिबधक है। प्रथम विभाग की तीव्रता रहने पर दर्शनशक्ति का आविर्भाव नही होता है, लेकिन जैसे-जैसे मन्दता या अभाव की स्थिति वनती है, दर्शनशक्ति व्यक्त होती है।

दर्शनशक्ति के व्यक्त होने पर यानी—दर्शनमोह और अनन्तानुवन्धी कपाय का वेग शात या क्षय होने पर चतुर्थ गुणस्थान के अन्त मे अप्रत्याख्यानावरण कषाय का सस्कार नही रहता है। जिससे पाचवे गुणस्थान मे चारित्रशक्ति का प्राथमिक विकास होता है। इसके अनन्तर पाचवे गुणस्थान के अत मे प्रत्याख्यानावरण कपाय का वेग न रहने से चारित्रशक्ति का विकास और वढता है जिससे इन्द्रियविषयो से विरक्त होने पर जीव साधु (अनगार) वन जाता है। यह विकास की छठवी भूमिका है। इस भूमिका मे चारित्र की विपक्षी सज्वलन कपाय के विद्यमान रहने से चारित्रपालन मे विक्षेप तो पडता रहता है, किन्तु चारित्रशक्ति का विकास दवता नही है। शुद्धि और स्थिरता मे अतराय आते रहते है और आत्मा उन विघातक कारणो से सघर्प भी करती रहती है। इस सघर्प मे सफलता प्राप्त कर जव सज्वलन सस्कारो को दवाती हुई आत्मा विकास की ओर गतिशील रहती है तव सातवे आदि गुणस्थानो को लाघकर वारहवे गुणस्थान मे पहुच जाती है। वारहवे गुणस्थान मे तो दर्शन-

शक्ति और चारित्र-शक्ति के विपक्षी संस्कार सर्वथा क्षय हो जाते है, जिससे दोनो शक्तिया पूर्ण विकसित हो जाती है। उस स्थिति मे शरीर, आयु आदि का सम्वन्ध रहने से जीवन्मुक्त अरिहन्त अवस्था प्राप्त हो जाती है और वाद मे शरीर आदि का भी वियोग हो जाने पर शुद्ध ज्ञान, दर्शन आदि शक्तियो से सम्पन्न आत्मावस्था प्राप्त हो जाती है। जीवन्-मुक्त अवस्था तेरहवा और शरीर आदि से रहित पूर्ण निष्कर्म अवस्था चौदहवा गुणस्थान कहलाता है।

चौदहवा गुणस्थान प्राप्त आत्मा अपने यथार्थ रूप मे विकसित होकर सदा के लिए सुस्थिर दशा प्राप्त कर लेती है। इसी को मोक्ष कहते है। आत्मा की समग्र शक्तियो के अत्यधिक रूप से अव्यक्त रहना प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान है और क्रमिक विकास करते हुए परिपूर्ण रूप को व्यक्त करके आत्मस्थ हो जाना चौदहवा गुणस्थान अयोगी केवली है। यह चौदहवा गुणस्थान चतुर्थ गुणस्थान मे देखे गये ईश्वरत्व, परमात्मत्व का तादात्म्य है। पहले और चौदहवे गुणस्थानो के वीच जो दो से लेकर तेरहवे पर्यन्त गुणस्थान है, वे कर्म और आत्मा के द्वन्द्व-युद्ध के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली उपलब्धियो के नाम है। आत्मा को क्रमिक विकास के मार्ग मे किन-किन भूमिकाओ पर आना पडता है, यही गुणस्थानो की क्रमवद्ध शृखला की वे एक-एक कडिया है।

यहा गुणस्थानो की अति सक्षिप्त रूपरेखा वतलाई है। गुणस्थानो के नाम, उनका क्रमवद्ध व्यवस्थित विशेप विवरण इसी ग्रन्थ की दूसरी गाथा मे दिया गया है।

अन्य ग्रन्थो मे गुणस्थान संवंधी चर्चा

जैनदर्शन के समान ही अन्य दर्शनो मे भी आत्मविकास के सम्वन्ध मे विचार किया गया है। उनमे भी कर्मवद्ध आत्मा को क्रमिक विकास करते हुए पूर्ण मुक्त दशा को प्राप्त करना माना है। योगवाशिष्ठ और पातजल योगसूत्र आदि ग्रन्थो मे आत्मविकास की भूमिकाओ का विस्तार से कथन किया गया है। योगवाशिष्ठ मे सात भूमिकाये अज्ञान की और सात भूमिकाये ज्ञान की मानी है। उनके नाम क्रमश इस प्रकार है—

अज्ञान की भूमिकाये—१. वीजजाग्रत, २. जाग्रत, ३. महाजाग्रत, ४ जाग्रतस्वप्न, ५. स्वप्न, ६ स्वप्नजाग्रत, ७ सुषुप्तक।

ज्ञान की भूमिकाये—१. शुभेच्छा, २ विचारणा, ३ तनुमानसा, ४. सत्त्वापत्ति, ५. असमक्ति, ६. पदार्थाभाविनी, ७ तूर्यगा।

उक्त १४ भूमिकाओ का साराश निम्नप्रकार है—

१. **वीजजाग्रत**—इस भूमिका मे अह एव ममत्व वुद्धि की जागृति नही होती है। किन्तु वीज रूप मे जागृति की योग्यता होती हे। यह भूमिका वनस्पति आदि क्षुद्र निकाय मे मानी गई है।

२. **जाग्रत**—इसमे अह एव ममत्व वुद्धि अल्पाश मे जाग्रत होती है।

३. **महाजाग्रत**—इस भूमिका मे अह व ममत्व वुद्धि विशेप रूप से पुप्ट होती है। यह भूमिका मानव, देव समूह मे मानी जा सकती है।

४. **जाग्रतस्वप्न**—इस भूमिका मे जागते हुए भी भ्रम का समावेश होता है। जैसे एक चद्र के वदले दो दिखना, सीप मे चादी का भ्रम होना। इस भूमिका मे भ्रम होने के कारण यह जाग्रतस्वप्न कहलाती है।

५. **स्वप्न**—निद्रावस्था मे आए हुए स्वप्न का जागने के पश्चात जो भान होता है, उसे स्वप्न भूमिका कहते है।

६. **स्वप्नजाग्रत**—वर्षो तक प्रारम्भ रहे हुए स्वप्न का इसमे समावेश होता है। शरीरपात हो जाने पर भी चलता रहता है।

७. **सुषुप्तक**–प्रगाढ निद्रा जैसी अवस्था। इसमे जड जैसी स्थिति हो जाती है और कर्म मात्र वासना रूप मे रहे हुए होते है।

यह सात अज्ञानमय भूमिका के भेदो का साराश है। इनमे तीसरी से सातवी तक की भूमिकाये मानव निकाय मे होती है। ज्ञानमय भूमिकाओ का रूप निम्न है—

१. **शुभेच्छा**—आत्मावलोकन की वैराग्य युक्त इच्छा।

२. **विचारणा**—शास्त्र और सत्सगपूर्वक वैराग्याभ्यास के कारण सदाचार मे प्रवृत्ति।

३. **तनुमानसा**—शुभेच्छा और विचारणा के कारण इन्द्रियविषयो मे आसक्ति कम होना।

४. **सत्त्वापत्ति**—सत्य और शुद्ध आतमा मे स्थिर होना।

५. असंसक्ति—असगरूप परिपाक से चित्त मे निरतिशय आनन्द का प्रादुर्भाव होना।

(६) पदार्थभाविनी—इसमे वाह्य और आभ्यन्तर सभी पदार्थो पर से इच्छाये नष्ट हो जाती है।

(७) तूर्यगा—भेदभाव का विल्कुल भान भूल जाने से एक मात्र स्वभाव निष्ठा मे स्थिर रहना। यह जीवन्मुक्त जैसी अवस्था होती है विदेहमुक्ति का विषय उसके पश्चात् की तूर्यातीत अवस्था है।

अज्ञान की सात भूमिकाओ को अज्ञान की प्रवलता से अविकास-क्रम मे और ज्ञान की सात भूमिकाओ मे क्रमश ज्ञान की वृद्धि होने से उन्हे विकास-क्रम मे गिना जा सकता है।

बौद्धदर्शन मे भी आत्मा के विकास-क्रम के वारे मे चिन्तन किया गया है और आत्मा की ससार और मोक्ष आदि अवस्थाये मानी है। त्रिपिटक मे आध्यात्मिक विकास का वर्णन उपलब्ध होता है। जिसमे विकास की निम्न-लिखित ६ स्थितिया बताई है—

(१) अध पुथुज्जन, (२) कल्याण पुथुज्जन, (३) सोतापन्न, (४) सकदा-गामी, (५) औपपातिक, (६) अरहा।

पुथुज्जन का अर्थ है सामान्य मानव। उसके अंध पुथुज्जन और कल्याण पुथुज्जन यह दो भेद किये गये है। जैनागमो मे कर्म सम्बन्धी वर्णन की तरह बौद्ध साहित्य मे भी दस सयोजनाओ (वधन) का वर्णन है।

अध पुथुज्जन और कल्याण पुथुज्जन मे दसो प्रकार की सयोजनाये होती है। लेकिन उन दोनो मे यह अन्तर है कि पहले को आर्य दर्शन और सत्सग प्राप्त नही होता, जबकि दूसरे को वह प्राप्त होता है। दोनो निर्वाण मार्ग से पराड्मुख है। निर्वाण मार्ग को प्राप्त करने वालो के चार प्रकार है। जिन्होंने तीन सयोजनाओ का क्षय किया वे सोतापन्न, जिन्होने तीन सयोजनाओ का क्षय और दो को शिथिल किया वे सकदागामी और जिन्होने पाच का क्षय किया वे औपपातिक है। जिन्होंने दसो सयोजनाओ का क्षय कर दिया वे अरहा कहलाते है।

इनमे प्रथम स्थिति आध्यात्मिक अविकास-काल की है। दूसरी मे विकास का अल्पाश मे स्फुरण होता है, किन्तु विकास की अपेक्षा अविकास का प्रभाव विशेष रहता है। तीसरी से छठी स्थिति आध्यात्मिक विकास के उत्तरोत्तर अभिवृद्धि की है और वह विकास छठवी भूमिका अरहा मे पूर्ण होता है और इसके पश्चात् निर्वाण की स्थिति वनती है।

आजीवक मत मे भी आत्मविकास की क्रमिक स्थितियो का सकेत किया गया होगा। आजीवक मत का अधिनेता मखलिपुत्र गोशालक भगवान महावीर की देखा-देखी करने वाला एक प्रतिद्वन्द्वी सरीखा माना जाता है। इसलिए उसने अवश्य ही आत्मविकास की क्रमिक स्थितियो को वतलाने के लिए गुणस्थानो जैसी परिकल्पना की होगी। लेकिन उसका कोई साहित्य उपलव्ध न होने से निश्चित रूप से कुछ भी नही कहा जा सकता है। फिर भी वौद्ध साहित्य मे आत्मविकास के लिए आजीवक मत के आठ सोपान वतलाये है—

(१) मद, (२) खिड्डा, (३) पद वीमसा, (४) उज्जुगत, (५) सेख, (६) समण, (७) जिन, (८) पन्न।

इन आठो का मज्झिमनिकाय की सुमगलविलासनी टीका मे वुद्धघोप ने निम्न प्रकार से वर्णन किया है—

(१) **मंद**—जन्म दिन से लेकर सात दिन तक गर्भ-निष्क्रमण-जन्य दु ख के कारण प्राणी मदस्थिति मे रहता है।

(२) **खिड्डा**—दुर्गति से आकर जन्म लेने वाला वालक पुन -पुन रुदन करता है और सुगति से आने वाला सुगति का स्मरण कर हास्य करता है। यह खिड्डा (क्रीडा) भूमिका है।

(३) **पद वीमंसा**—माता पिता के हाथ या अन्य किसी के सहारे से वालक का धरती पर पैर रखना पद वीमसा है।

(४) **उज्जुगत**—पैरो से स्वतन्त्र रूप से चलने की सामर्थ्य प्राप्त करना।

(५) **सेख**—शिल्प कला आदि के अध्ययन के समय की शिष्य भूमिका।

(६) **समण**—घर से निकल कर सन्यास ग्रहण करना समण भूमिका है।

(७) **जिन**—आचार्य की उपासना कर ज्ञान प्राप्त करने की भूमिका।

(८) पन्न—प्राज्ञ वना हुआ भिक्षु जव कुछ भी वातचीत नही करता ऐसे निर्लोभ श्रमण की भूमिका पन्न है।

इन आठ भूमिकाओ मे प्रथम तीन भूमिकाये अविकास का और अन्त की पाच भूमिकाये विकास का सूचन करने वाली हैं। उनके वाद मोक्ष होना चाहिए।

उक्त पातजल, वौद्ध और आजीवक मत की आत्मविकास के लिए मानी जाने वाली भूमिकाओ मे जैनदर्शन के गुणस्थानो जैसी क्रमवद्धता और स्पष्ट स्थिति नही है। फिर भी उनका प्रासगिक सकेत इसलिए किया है कि जन्म-जन्मान्तर एव इहलोक-परलोक मानने वाले दर्शनो ने आत्मा की कर्मवद्ध अवस्था से मुक्त होने के लिए चिन्तन किया है।

ग्रन्थ का विषय-विभाग और रचना का आधार

इस द्वितीय कर्मग्रन्थ मे गुणस्थानो के क्रम मे कर्म प्रकृतियो के वन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता का कथन किया गया है। अत. विषय-विभाग की दृष्टि मे इसके यही मुख्य चार विभाग है। वध अधिकार मे प्रत्येक गुणस्थान-वर्ती जीवो की वध योग्यता को, उदय,उदीरणा और सत्ता अधिकार मे क्रमश उदय, उदीरणा और सत्ता सम्वन्धी योग्यता को दिखलाया है।

इस ग्रन्थ की रचना प्राचीन कर्मस्तव नामक दूसरे कर्मग्रन्थ के आधार पर हुई है और उसका व इसका विषय एक ही है। दोनो मे भेद इतना ही है कि प्राचीन कर्मग्रन्थ मे ५५ गाथाये है और इसमे ३४। प्राचीन मे जो वात कुछ विस्तार से कही गई है, इसमे उसे परिमित शब्दो के द्वारा कह दिया है।

प्राचीन के आधार से वनाये गये इस कर्मग्रन्थ का 'कर्मस्तव' नाम कर्ता ने ग्रन्थ के प्रारम्भ मे उल्लिखित नही किया है, फिर भी इसका कर्मस्तव नाम होने मे कोई सदेह नही है। क्योकि ग्रन्थकर्ता ने अपने रचे तीसरे कर्मग्रन्थ की अन्तिम गाथा मे नेयं कम्मत्थयं सोउं इस अश से इस नाम का कथन कर दिया है।

व्यवहार मे प्राचीन कर्मग्रन्थ का नाम कर्मस्तव है, किन्तु उसकी प्रारभिक गाथा से स्पष्ट जान पडता है कि उसका असली नाम 'वन्धोदयसत्त्व-युक्त स्तव'

है। इसी नाम से गोम्मट्टसार कर्मकाण्ड मे भी एक प्रकरण है। दोनो के नामो मे कोई विशेष अन्तर नही है, दोनो मे 'स्तव' शव्द समान होने पर भी गोम्मट्टसार कर्मकाण्ड मे स्तव शव्द का अर्थ भिन्न है। 'कर्मस्तव' मे स्तव शव्द का मतलव स्तुति से है, जो सर्वत्र प्रसिद्ध है, किन्तु गोम्मट्टसार मे स्तव का अर्थ स्तुति न लेकर एक साकेतिक अर्थ किया है—किसी विपय के समस्त अगो का विस्तार या सक्षेप से वर्णन करने वाला शास्त्र।

इस प्रकार विषय और नामकरण मे समानता होने पर भी नामार्थ मे जो भेद पाया जाता है, वह सम्प्रदाय भेद तथा ग्रन्थरचना सम्वन्धी देशकाल के भेद का परिणाम जान पडता है।

प्राक्कथन के रूप मे कुछ वातो का सकेत किया गया है। पाठक गण इन विचारो के आधार पर ग्रन्थ का अध्ययन करते हुए कर्म साहित्य के अन्य-अन्य ग्रन्थो का अवलोकन करेंगे तो उन्हे एक विशेप आनन्द की अनुभूति होगी।

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'
—देवकुमार जैन

द्वितीय भाग

कर्मग्रन्थ

[कर्मस्तव]

वन्दे वीरम्

श्रीमद् देवेन्द्रसूरि विरचित

कर्मस्तव

[द्वितीय कर्मग्रन्थ]

तह थुणिमो वीरजिणं जह गुणठाणेसु सयलकम्माइं ।
बन्धुदओदीरणयासत्तापत्ताणि खवियाणि ॥१॥

अर्थ—श्री वीर जिनेश्वर ने जिस प्रकार गुणस्थानों मे वन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता स्थान को प्राप्त हुए समस्त कर्मो का क्षय किया है, उसी प्रकार हम भी कर सके, इसी आशय से उनकी स्तुति करते है ।

विशेषार्थ—इस गाथा मे श्री वीरजिनेश्वर की स्तुति करते हुए ग्रंथ मे वर्णन किये जाने वाले विषय का संकेत किया है ।

स्तुति दो प्रकार से की जाती है—प्रणाम और असाधारण गुणोत्कीर्तन द्वारा । इस गाथा मे दोनों प्रकार की स्तुतियो का अन्तर्भाव हो जाता है, क्योकि असाधारण और वास्तविक गुणों का कथन करना स्तुति कहलाता है । सकल कर्मो का निःशेष रूप से क्षय करना भगवान् महावीर का असाधारण और वास्तविक गुण है । उन्होंने कर्मो का जो क्षय किया है, वह किसी एक ही प्रकार की अवस्था रूप में विद्यमान कर्मो का नही किया है, अपितु वंध, उदय, उदीरणा, सत्ता रूप समग्र अवस्थाओं मे रहे हुए कर्मो का क्षय करके सच्चिदानन्दमय आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लिया है । यह ग्रंथकार द्वारा की गई

गुणानुवाद रूप स्तुति हुई । गाथा मे जो 'थुणिमो' क्रियापद दिया है उससे प्रणामरूप स्तुति की गई है ।

कारण के बिना कार्य नही होता है । जीव का ससार मे परिभ्रमण करना कार्य है और उसका कारण है कर्म । जब तक जीव संसार मे रहता है, तब तक कर्मो की बध, उदय आदि अवस्थाये होती रहती है । किन्तु जैसे-जैसे कर्मो का क्षय होने के साथ-साथ नवीन कर्मो का बध होना भी कम हो जाता है, वैसे-वैसे कर्मो की सत्ताशक्ति आदि भी धीरे-धीरे निस्सत्व—निश्शेष होती जाती है और आत्मिक गुणो का क्रमश: विकास होते-होते अन्त मे समग्र रूप में कर्मक्षय होने पर जीव शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है ।

जीव द्वारा इस शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति को मोक्ष कहते है । परन्तु नवीन कर्म बाधने की योग्यता का जब तक अभाव नही होता, पूर्वबद्ध कर्मो की आत्यन्तिक निर्जरा नही हो जाती, तव तक कर्म का बधन होना सम्भव है । कर्मो की सिर्फ बंध और क्षय ये दो स्थितियाँ ही नही है, किन्तु फल देना आदि रूप और भी स्थितियाँ होती है । कर्मो की इन स्थितियों—अवस्थाओं को मुख्य रूप से बध, उदय, उदीरणा, सत्ता कहते है । इन अवस्थाओं में बधावस्था मुख्य है, अर्थात् बंध होने पर उदय, उदीरणा, सत्ता आदि स्थितियाँ होती है । इन्ही अवस्थाओं का वर्णन क्रमश: इस ग्रन्थ में किया जा रहा है । जिनके लक्षण इस प्रकार है—

बंध—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, योग के निमित्तो से ज्ञानावरणादि रूप से परिणत होकर अनन्तानन्त प्रदेश वाले सूक्ष्म कर्मपुद्गलों का आत्मा के साथ दूध-पानी के समान एकक्षेत्रावगाढ़ होकर मिल जाना बंध कहलाता है । मिथ्यात्वादि से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है और बधे हुए कर्मपुद्गलों के कारण

जीव मिथ्यात्व आदि रूप परिणाम करता रहता है। इस प्रकार ये दोनों परस्पर आश्रित है।

उदय—उदयकाल[1] आने पर शुभाशुभ फल का भोगना उदय कहलाता है। अर्थात् वाधी गई कर्म की स्थिति के अनुसार अथवा अपवर्तना-उद्वर्तना आदि करणो से कम हुई अथवा बढ़ी हुई स्थिति के अनुसार यथासमय उदयावलि मे प्राप्त कर्म का वेदन होना उदय कहलाता है।

वंधनकाल में कर्म के कारणभूत काषायिक अध्यवसाय के तीव्र व मंद भाव के अनुसार प्रत्येक कर्म में तीव्र, मन्द फल देने की शक्ति उत्पन्न होती है और तदनुसार उदयकाल आने पर कर्म को भोगना पडता है। यह फल देने की शक्ति स्वयं कर्म मे निष्ठ होती है उसी कर्म के अनुसार फल देती है। दूसरे कर्म के स्वभाव-अनुसार नही।

कर्म का वेदन वंध होते ही तत्काल नही होता है, किन्तु कुछ समय-विशेष तक स्थिर रहने के वाद उसका वेदन होना प्रारम्भ होता है। इस स्थिर रहने के समय को आवाधाकाल[2] कहते है। जैसे वर्तमान मे पानी कितना भी उवल रहा हो, लेकिन उसमें पकने के लिए डाली गई वस्तु कुछ समय के लिए वर्तन के तले मे वैठ जाती है और फिर उसके वाद उसका पकना प्रारम्भ होता है। इस प्रकार तले में वैठने की स्थिति और समय जैसा अवाधाकाल समझना चाहिए।

---

१. अवाधाकाल व्यतीत हो चुकने पर जिस कर्म के फल का अनुभव होता है, उस समय को उदयकाल कहते है।

२. वंधे हुए कर्म से जितने समय तक आत्मा को शुभाशुभ फल का वेदन नही होता, उतने समय को आवाधाकाल कहते हैं।

गुणानुवाद रूप स्तुति हुई । गाथा मे जो 'थुणिमो' क्रियापद दिया है, उससे प्रणामरूप स्तुति की गई है ।

कारण के बिना कार्य नही होता है । जीव का ससार मे परिभ्रमण करना कार्य है और उसका कारण है कर्म । जव तक जीव ससार मे रहता है, तब तक कर्मो की बध, उदय आदि अवस्थायें होती रहती है । किन्तु जैसे-जैसे कर्मो का क्षय होने के साथ-साथ नवीन कर्मो का बध होना भी कम हो जाता है, वैसे-वैसे कर्मो की सत्ताशक्ति आदि भी धीरे-धीरे निस्सत्व—निश्शेष होती जाती है और आत्मिक गुणो का क्रमशः विकास होते-होते अन्त मे समग्र रूप में कर्मक्षय होने पर जीव शुद्ध आतमस्वरूप को प्राप्त कर लेता है ।

जीव द्वारा इस शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति को मोक्ष कहते है । परन्तु नवीन कर्म बाधने की योग्यता का जव तक अभाव नही होता, पूर्ववद्ध कर्मो की आत्यन्तिक निर्जरा नही हो जाती, तव तक कर्म का बधन होना सम्भव है । कर्मो की सिर्फ बंध और क्षय ये दो स्थितियाँ ही नही है, किन्तु फल देना आदि रूप और भी स्थितियाँ होती है । कर्मो की इन स्थितियों—अवस्थाओं को मुख्य रूप से बध, उदय, उदीरणा, सत्ता कहते है । इन अवस्थाओ मे बधावस्था मुख्य है, अर्थात् बंध होने पर उदय, उदीरणा, सत्ता आदि स्थितियाँ होती है । इन्ही अवस्थाओ का वर्णन क्रमशः इस ग्रन्थ में किया जा रहा है । जिनके लक्षण इस प्रकार है—

बध—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, योग के निमित्तों से ज्ञानावरणादि रूप से परिणत होकर अनन्तानन्त प्रदेश वाले सूक्ष्म कर्म-पुद्‌गलों का आत्मा के साथ दूध-पानी के समान एकक्षेत्रावगाढ़ होकर मिल जाना वध कहलाता है । मिथ्यात्वादि से जीव कर्म के योग्य पुद्‌गलों को ग्रहण करता है और बधे हुए कर्मपुद्‌गलों के कारण

जीव मिथ्यात्व आदि रूप परिणाम करता रहता है। इस प्रकार ये दोनों परस्पर आश्रित है।

उदय—उदयकाल[1] आने पर शुभाशुभ फल का भोगना उदय कहलाता है। अर्थात् बाधी गई कर्म की स्थिति के अनुसार अथवा अपवर्तना-उद्वर्तना आदि करणों से कम हुई अथवा बढ़ी हुई स्थिति के अनुसार यथासमय उदयावलि मे प्राप्त कर्म का वेदन होना उदय कहलाता है।

बंधनकाल में कर्म के कारणभूत काषायिक अध्यवसाय के तीव्र व मंद भाव के अनुसार प्रत्येक कर्म में तीव्र, मन्द फल देने की शक्ति उत्पन्न होती है और तदनुसार उदयकाल आने पर कर्म को भोगना पड़ता है। यह फल देने की शक्ति स्वयं कर्म में निष्ठ होती है उसी कर्म के अनुसार फल देती है। दूसरे कर्म के स्वभाव-अनुसार नही।

कर्म का वेदन बंध होते ही तत्काल नहीं होता है, किन्तु कुछ समय-विशेष तक स्थिर रहने के बाद उसका वेदन होना प्रारम्भ होता है। इस स्थिर रहने के समय को आवाधाकाल[2] कहते है। जैसे वर्तमान में पानी कितना भी उबल रहा हो, लेकिन उसमें पकने के लिए डाली गई वस्तु कुछ समय के लिए वर्तन के तले में बैठ जाती है और फिर उसके वाद उसका पकना प्रारम्भ होता है। इस प्रकार तले मे वैठने की स्थिति और समय जैसा अवाधाकाल समझना चाहिए।

---

१. अवाधाकाल व्यतीत हो चुकने पर जिस कर्म के फल का अनुभव होता है, उस समय को उदयकाल कहते है।

२. वधे हुए कर्म से जितने समय तक आत्मा को शुभाशुभ फल का वेदन नही होता, उतने समय को आवाधाकाल कहते हैं।

लेकिन यह आवाधाकाल सभी कर्मो का अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। कभी तो यह आवाधाकाल स्वाभाविक क्रम के अनुसार व्यतीत होता है और कभी कारण-विशेष, वीर्य-विशेष के संयोग से शीघ्र भी पूरा हो जाता है। अवाधाकाल के इस शीघ्र पूर्ण होने को अपवर्तनाकरण[1] कहते है।

जिस प्रकार वीर्य-विशेष से पहले बंधे हुए कर्मो की स्थिति व रस घटाया जा सकता है, उसी प्रकार वीर्य-विशेष से कर्म अपने स्वरूप को छोड़कर अपने सजातीय स्वरूप मे परिवर्तित कर भोगा भी जा सकता है। अर्थात् वीर्य-विशेष से कर्म का अपनी ही दूसरी सजातीय कर्म प्रकृति स्वरूप को प्राप्त कर लेना सक्रमण कहलाता है।

कर्मो की मूल प्रकृतियों का एक दूसरे में संक्रमण होता नही है। किंतु मूल कर्म के उत्तर भेदों मे संक्रमण होता भी है और नही भी होता है। जैसे कि ज्ञानावरण कर्म मूल कर्मप्रकृति है और मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण आदि उत्तर भेद है। इनमें से मतिज्ञानावरण कर्म श्रुतज्ञानावरण कर्म के रूप में अथवा श्रुतज्ञानावरण कर्म मतिज्ञानावरण आदि के रूप में परिवर्तित हो जाता है। क्योंकि ये प्रकृतियाँ मूल कर्म ज्ञानावरण के उत्तर भेद होने से परस्पर में सजातीय है और ज्ञान को ही आवृत करती है। किन्तु आत्मा के अन्य गुणों को आवृत करने की सामर्थ्य नही रखती है। अर्थात् ज्ञानावरण का दर्शनावरण के रूप मे और दर्शनावरण का ज्ञानावरण कर्म के रूप मे परिवर्तन नही होता है। क्योंकि इन दोनों कर्मो का अलग-अलग स्वभाव है और अलग-अलग

---

१. जिस वीर्यविशेष से पहले वधे हुए कर्म की स्थिति तथा रस घट जाते है, उसको अपवर्तनाकरण कहते है।

कार्य करने की क्षमता रखते है और अपने स्वभाव के अनुरूप ही कार्य कर सकते है। किन्तु अपने मूल स्वभाव को छोड़ने की शक्ति नही रखते है। यदि कर्मों की मूल प्रकृतियाँ अपने मूल स्वभाव को छोड़ दे तो उनका अस्तित्व ही नही रहेगा और सख्या भी नियत नही रहेगी।

यद्यपि यह तो निश्चित है कि कर्मों की मूल प्रकृतियाँ सक्रमण नही करती है। लेकिन उत्तर प्रकृतियो में कितनी ऐसी भी है, जो सजातीय होने पर भी परस्पर सक्रमण नही करती है, जैसे—दर्शन-मोह और चारित्रमोह-ये दोनो मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ है, किन्तु इनमे से दर्शनमोह चारित्रमोह के रूप में अथवा चारित्रमोह दर्शनमोह के रूप मे सक्रमण नही करता है। इसी तरह आयु कर्म के उत्तरभेदों के बारे में भी समझना चाहिए कि नारक-आयुष्क का तिर्यच-आयुष्क के रूप मे अथवा किसी अन्य आयुष्क के रूप में भी संक्रमण नही होता है।

उदीरणा—उदय काल प्राप्त हुए बिना ही आत्मा की सामर्थ्य-विशेष से कर्मो को उदय मे लाना उदीरणा है। अर्थात् आबाधाकाल व्यतीत हो चुकने पर भी जो कर्मदलिक पीछे से उदय में आने वाले होते है, उनको प्रयत्न-विशेष से उदयावलि मे लाकर उदयप्राप्त दलिकों के साथ भोग लेना उदीरणा कहलाता है।

सत्ता—बंधे हुए कर्म का अपने स्वरूप को न छोड़कर आत्मा के साथ लगे रहना सत्ता कहलाती है।

जैसे कि मनुष्यगति और मनुष्यगत्यानुपूर्वी ये दो कर्म बंधे हों तो वे दोनों बंध होने के कारण अपने स्वरूप को प्राप्त हुए माने जाएँगे और जब तक दोनों अपने स्वरूप में स्थित रहेंगे, तब तक उनकी सत्ता मानी जायेगी।

मिथ्यात्व मोहनीय कर्म वन्ध होने के कारण सत्तारूप होने पर भी उसमे से फल देने की शक्ति कम हो जाने से उसके अर्द्ध रस वाले और नीरसप्राय—ये दो विभाग और हो जाते है और उन दोनों के बध न होने पर भी मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय की सत्ता मानी जाती है। क्योकि इन दोनों प्रकृतियों ने विना वन्ध के ही, अपने स्वरूप को प्राप्त करने के द्वारा अपनी विद्यमानता सिद्ध कर सत्ता प्राप्त की है।

इन बन्ध आदि स्थितियो वाले समस्त कर्मो का क्षणमात्र मे ही भगवान महावीर ने क्षय नही किया था। किन्तु क्रमशः उनके क्षय द्वारा श्रेणी-अनुश्रेणी आत्मशक्तियों का क्रमिक विकास कर परमात्मा, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बने थे। यही आत्मशक्तियों के विकास का क्रम है और प्रत्येक आत्मा को इसके लिए अपने-अपने प्रयत्न करने पड़ते है।

जीव द्वारा अपने विकास के लिए किये जाने वाले प्रयत्नो से ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि की अपेक्षा से उपलब्ध स्वरूप-विशेष को गुण-स्थान कहते है। अर्थात् गुण—ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि जीव का स्वभाव और स्थान—उनकी तरतमता से उपलब्ध स्वरूप को गुणस्थान कहते है।

ये स्वरूप-विशेष ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों की शुद्धि और अशुद्धि के तरतमभाव से होते है। गुणों की शुद्धि और अशुद्धि में तरतमभाव होने का कारण दर्शन-मोहनीय आदि कर्मो का उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि है। अर्थात् जब प्रतिरोधक कर्म कम हो जाता है, तब ज्ञान-दर्शनादि गुणो की शुद्धि अधिक प्रकट हो जाती है, और जव प्रतिरोधक कर्म की अधिकता होती है, तब ज्ञानादि गुणों क शुद्धि कम होती है। आत्मिक गुणों के इस न्यूनाधिक क्रमिक विकास की अवस्था को गुणस्थानक्रम कहते है।

यद्यपि शुद्धि और अशुद्धि से जन्य जीव के स्वरूप-विशेष असंख्य प्रकार के हो सकते हैं, तथापि उन सब स्वरूप-विशेषों का संक्षेप में चौदह गुणस्थानों के रूप में अन्तर्भाव हो जाता है। ये गुणस्थान मोक्ष-महल को प्राप्त करने के लिए सोपान के समान है।

प्रत्येक गुणस्थान मे कितनी-कितनी और किन-किन प्रकृतियों का बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता हो सकती है, इसका वर्णन क्रमशः आगे की गाथाओं में किया जा रहा है।

गुणस्थानों के नाम

मिच्छे सासण मीसे अविरय देसे पमत्त अपमत्ते।
नियट्टि अनियट्टि सुहुमुवसम खीण सजोगि अजोगिगुणा ॥२॥

अर्थ—मिथ्यात्व, सास्वादन, मिश्र, अविरत, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, निवृत्ति, अनिवृत्ति, सूक्ष्म, उपशम, क्षीण, सयोगि और अयोगि—ये गुणस्थान है।

विशेषार्थ—गुणस्थानों में कर्मों की बन्ध आदि अवस्थाओं को वतलाने से पहले गुणस्थानों के नामों का कथन करना जरूरी होने से इस गाथा में गुणस्थानों के नाम गिनाये है। इनके नाम और क्रम इस प्रकार है—

(१) मिथ्यात्व,
(२) सास्वादन (सासादन)
(३) मिश्र (सम्यग्मिथ्यादृष्टि),
(४) अविरत सम्यग्दृष्टि,
(५) देशविरत,
(६) प्रमत्तसंयत,
(७) अप्रमत्तसंयत,
(८) निवृत्ति (अपूर्वकरण),
(९) अनिवृत्ति वादर संपराय,
(१०) सूक्ष्म संपराय,
(११) उपशान्तमोह वीतराग,
(१२) क्षीणमोह वीतराग,
(१३) सयोगी केवली,
(१४) अयोगी केवली।

उक्त नामो में प्रत्येक के साथ गुणस्थान शब्द जोड़ लेना चाहिए जैसे—मिथ्यात्व गुणस्थान आदि ।

गुणस्थानों के नामों के क्रम मे जीव के आध्यात्मिक विकास की व्यवस्थित प्रणाली के दर्शन होते है कि पहले-पहले के गुणस्थान की अपेक्षा आगे-आगे के गुणस्थान मे ज्ञान, दर्शन आदि गुणों की शुद्धि बढ़ती जाती है। परिणामत: आगे-आगे के गुणस्थानो मे अशुभ प्रकृतियों की अपेक्षा शुभ प्रकृतियों का अधिक बन्ध होता है और क्रम-क्रम से शुभ प्रकृतियों का भी बन्ध रुक जाने से अन्त में जीवमात्र के लिए प्राप्त करने योग्य शुद्ध, परम शुद्ध प्रकाशमान आत्मरमणता रूप परमात्मा पद प्राप्त हो जाता है ।

गुणस्थानों की व्यवस्था—जगत् में अनन्त जीव है। उनमे प्रत्येक जीव एक समान दिखाई नही देता है। इन्द्रिय, वेद, ज्ञानशक्ति, उपयोगशक्ति, लक्षण आदि विभागो द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से शास्त्र मे जीवों के भेद बतलाये गये है और जगत मे वैसा दिखता भी है। परन्तु आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से जो विभाग किये गये है, वे इन गुणस्थानों की व्यवस्था से बराबर व्यवस्थित रूप में समझ सकते है ।

सामान्यतया आध्यात्मिक दृष्टि से जगत मे जीवों के दो प्रकार है—(१) मिथ्यात्वी—मिथ्यादृष्टि, (२) सम्यक्त्वी—सम्यग्दृष्टि । अर्थात् कितने ही जीव गाढ अज्ञान और विपरीत बुद्धि वाले और कितने ही ज्ञानी, विवेकशील, प्रयोजनभूत लक्ष्य के मर्मज्ञ, आदर्श का अनुसरण कर जीवन व्यतीत करने वाले होते है ।

उक्त दोनो प्रकार के जीवों मे अज्ञानी और विपरीत बुद्धि वाले जीवों को मिथ्यात्वी कहते है। ऐसे जीवो का बोध कराने के लिए पहला मिथ्यात्व—मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है ।

सम्यक्त्वधारियों में भी तीन भेद हो जाते है--(१) सम्यक्त्व से गिरते समय स्वल्प सम्यक्त्व वाले, (२) अर्द्ध सम्यक्त्व और अर्द्ध मिथ्यात्व वाले, (३) विशुद्ध सम्यक्त्व वाले, किन्तु चारित्ररहित। उक्त स्थिति वालों मे से स्वल्प सम्यक्त्व वाले जीवों के लिए दूसरा सास्वादन गुणस्थान, आधे सम्यक्त्व और आधे मिथ्यात्व वाले जीवों के लिए तीसरा मिश्र गुणस्थान और विशुद्ध सम्यक्त्व, किन्तु चारित्र-रहित जीवों के लिए चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान का कथन किया गया है।

चारित्ररहित सम्यग्दृष्टि जीव चौथे गुणस्थान वाले कहलाते है। लेकिन जो जीव सम्यक्त्व और चारित्र सहित है, उनके भी दो प्रकार हो जाते है—(१) एकदेश (आंशिक) चारित्र का पालन करने वाले और (२) सम्पूर्ण चारित्र का पालन करने वाले। इन दोनों भेदों में से एकदेश चारित्र का पालन करने वाले जीवों का ग्रहण करने के लिए पॉचवे देशविरत नामक गुणस्थान का कथन है।

सम्पूर्ण चारित्र का पालन करने वालों मे भी संयम पालन करने मे प्रमादवश अतिचार, दोष लगाने वाले प्रमत्तसंयत नामक छठे गुणस्थानवर्ती और प्रमाद के अभाव से निर्दोष चारित्र का पालन करने वाले अप्रमत्तसयत नामक सातवे गुणस्थान वाले कहलाते है। अर्थात् प्रमादसहित सर्व सयमी और प्रमादरहित सर्व सयमी जीव क्रमशः प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयत कहलाते है और उनमें प्रमत्तसंयत छठा और अप्रमत्तसयत सातवा गुणस्थान है।

यद्यपि अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती जीवों ने अभी पूर्ण वीतराग-दशा प्राप्त नही कर ली है, किन्तु छद्मस्थ—कर्मावृत है। लेकिन वीतराग दशा प्राप्त करने की ओर उन्मुख हो जाते है। अतः अप्रमत्त-सयत गुणस्थानवर्ती जीवों में से कितनेक कर्मो का व्यवस्थित रीति से

क्षय करने के लिए श्रेणीक्रम पर आरोहण करते है और परिणाम शुद्ध से शुद्धतर होते जाते है। श्रेणी का यह क्रम पहले की अपेक्षा दूसरे, दूसरे की अपेक्षा तीसरे समय मे अपूर्व ही होता है और इस श्रेणीक्रम में एक की दूसरे से, दूसरे से तीसरे आदि की तुलना या समानता नही होती है। अतः ऐसी श्रेणीक्रम स्थिति वाले निवृत्ति (अपूर्वकरण) नामक आठवे गुणस्थानवर्ती कहलाते है।

यद्यपि श्रेणी-आरोहण के कारण प्राप्त क्रमिक विशुद्धता के बढने से जीव के कषाय भावो में काफी निर्बलता आ जाती है, फि भी उन कषायों मे पुनः उद्रेक होने की शक्ति वनी रहती है। अत ऐसे कषायपरिणाम वाले जीवो का वोध कराने के लिए आठवे के बाद नौवे अनिवृत्तिबादर सपराय नामक गुणस्थान का कथन किय गया है।

नौवे गुणस्थानवर्ती जीव के द्वारा प्रतिसमय कषायो को कृश करने के प्रयत्न चालू रहते है और वैसा होने से एक समय ऐसी स्थिति आ जाती है, जब ससार की कारणभूत कषायो की एव झलक-सी दिखलाई देती है। इस स्थिति वाले जीव सूक्ष्मसपराय नामक दसवे गुणस्थानवर्ती कहलाते है।

जैसे झाईमात्र अतिसूक्ष्म अस्तित्व रखने वाली वस्तु तिरोहित अथवा नष्ट हो जाती है, वैसे ही जो कषायवृत्ति अत्यन्त कृश हो गई है, उसके शान्त-उपशमित अथवा पूर्ण रूप से नष्ट हो जाने से जीव को शुद्ध—निर्मल स्वभाव के दर्शन होते है। इस प्रकार शान्त (सत्ता मे है) और नष्ट (समूल क्षय)—इन दोनों स्थितियो को वतलाने के लिए क्रमशः ग्यारहवा उपशान्तमोह वीतराग और वारहवां क्षीणमोह वीतराग नामक गुणस्थान है।

मोहनीय कर्म के साथ-साथ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्त-राय कर्मों का क्षय होने से जीव ने अनन्त ज्ञान, दर्शन आदि अपने निज गुणों को प्राप्त कर लिया है। लेकिन अभी शरीरादि योगों का सम्बन्ध बना रहने से योगयुक्त वीतरागी जीव सयोगी केवली नामक तेरहवे गुणस्थानवर्ती कहलाते है और जब शरीरादि योगों से रहित शुद्ध ज्ञान, दर्शनयुक्त स्वरूपरमणता आत्मा मे प्रकट हो जाती है तो इसका कथन अयोगी केवली नामक चौदहवे गुणस्थान द्वारा किया जाता है। इस दशा को प्राप्त करना जीव का परम लक्ष्य है और संसार का नाश कर सदा के लिए शाश्वत निर्मल सिद्ध, बुद्ध, चैतन्य रूप में रमण करता है।

गुणस्थानों की परिभाषा

जीव के विकास की प्रारम्भिक सीढी पहला मिथ्यात्व गुणस्थान है और उसकी पूर्णता अयोगी केवली नामक चौदहवे गुणस्थान मे होती है। विकास के इस क्रम का दिग्दर्शन पूर्व मे कराया जा चुका है। अव मिथ्यात्व आदि गुणस्थानो का स्वरूप बतलाते है।

(१) **मिथ्यात्व गुणस्थान**—मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से जिस जीव की दृष्टि (श्रद्धा, प्रतिपत्ति) मिथ्या (उल्टी, विपरीत) हो जाती है, उसे मिथ्यादृष्टि कहते है। जैसे धतूरे के बीज को खाने वाला मनुष्य सफेद वस्तु को भी पीली देखता है, वैसे ही मिथ्यात्वी मनुष्य की दृष्टि भी विपरीत हो जाती है, अर्थात् कुदेव को देव, कुगुरु को गुरु और कुधर्म को धर्म समझता है। आत्मा तथा अन्य, चैतन्य व जड़ का विवेकज्ञान ही नही होता है। इस प्रकार के मिथ्यादृष्टि जीव के स्वरूप-विशेष को मिथ्यात्व गुणस्थान कहते है। मिथ्यात्व गुणस्थान को मिथ्यादृष्टि गुणस्थान भी कहते है।

प्रश्न—विपरीत दृष्टि को यदि मिथ्यादृष्टि कहते है तो मिथ्यात्वी जीव के स्वरूप-विशेष को गुणस्थान कैसे कह सकते है ?

उत्तर—यद्यपि मिथ्यात्वी की दृष्टि विपरीत है तो भी वह कि अश मे यथार्थ भी होती है। क्योंकि मिथ्यात्वी जीव भी मनुष्य, प पक्षी आदि को मनुष्य, पशु, पक्षी आदि रूप से जानता तथा मान है। इसीलिए उसके चेतना स्वरूप-विशेप को गुणस्थान कहते है।

जिस प्रकार सघन बादलो का आवरण होने पर भी सूर्य की प्र सर्वथा ढक नही जाती है, किन्तु कुछ-न-कुछ खुली रहती है, जिससे कि दिन-रात का विभाग किया जा सके। इसी प्रकार मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म का उदय होने पर भी जीव का दृष्टिगुण सर्वथा ढक नही जाता है, किन्तु आशिक रूप में मिथ्यात्वी की दृष्टि भी यथार्थ होती है। इसके सिवाय निगोदिया जीव को भी आशिक रूप से एक प्रकार का अव्यक्त स्पर्श मात्र उपयोग होता है। यदि यह न माना जाये तो निगोदिया जीव अजीव कहलायेगा।[1] इसीलिए मिथ्यात्व गुणस्थान माना जाता है।

प्रश्न—जब मिथ्यात्वी की दृष्टि को किसी अश मे यथार्थ होना मानते है तो उसे सम्यग्दृष्टि कहने और मानने में क्या बाधा है?

उत्तर—यह ठीक है कि किसी अश मे मिथ्यात्वी की दृष्टि यथार्थ होती है, लेकिन इतने मात्र से उसे सम्यग्दृष्टि नही कहा जा सकता है। क्योंकि शास्त्र में कहा गया है कि द्वादशाग सूत्रोक्त एक अक्षर पर भी जो विश्वास नही करता, वह मिथ्यादृष्टि है; जैसे—जमाली।[2] लेकिन

---

१. सव्वजीवाण पि य अक्खरस्स अणतमोभागो निच्च उग्घाडियो चिट्ठइ। जइ पुण सोवि आवरिज्जा तेण जीवो अजीवत्तण पाउणिज्जा।—**नंदी० ७५**

२. पयमवि असद्दहतो सुत्तत्थ मिच्छदिट्ठओ।
पयमक्खरपि इक्क जो न रोएइ सुत्तनिद्दिट्ठ।
सेस रोयतो वि हु मिच्छदिट्ठी जमालिव्व।

सम्यक्त्वी जीव की यह विशेषता होती है कि उसे सर्वज्ञ के कथन पर अखण्ड विश्वास होता है और मिथ्यात्वी को नहीं होता है। इसीलिए मिथ्यादृष्टि को सम्यक्त्वी नही कहते है।

मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले मिथ्या परिणामों का अनुभवन करने वाला जीव विपरीत श्रद्धा वाला हो जाता है। जिसप्रकार पित्त ज्वर से युक्त जीव को मीठा रस भी अच्छा मालूम नही होता, उसीप्रकार उसको यथार्थ धर्म भी अच्छा मालूम नही होता है।[1]

मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से तत्त्वार्थ के विपरीत श्रद्धानरूप होने वाले मिथ्यात्व के ये पाँच भेद होते है—(१) एकान्त, (२) विपरीत, (३) विनय, (४) संशयित, (५) अज्ञान।[2]

१ एकान्त मिथ्यात्व—अनेक धर्मात्मक पदार्थ को किसी एक धर्मात्मक मानना, इसको एकान्त मिथ्यात्व कहते हैं; जैसे—"वस्तु सर्वथा क्षणिक ही है, अथवा नित्य ही है।"

२ विपरीत मिथ्यात्व—धर्मादिक के स्वरूप को विपर्ययरूप मानना, विपरीत मिथ्यात्व कहते है; जैसे—"हिसा से स्वर्गादि की प्राप्ति होती है।"

३ विनय मिथ्यात्व—सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि, देव, गुरु और उनके कहे हुए शास्त्रों में समान बुद्धि रखना, विनय मिथ्यात्व है।

---

१. मिच्छत्तं वेदतो जीवो विवरीय दंसणो होदि।
णय धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रस जहा जरिदो॥

—गोम्मटसार जीवकाण्ड—१७

२. मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहण तु तच्च अत्थाण।
एयंतं विवरीयं विणयं ससयिदमण्णाण॥

—गो० सार जीवकाण्ड—१५

¹संशय मिथ्यात्व—समीचीन और असमीचीन—दोनों प्रकार के पदार्थों में से किसी भी एक का निश्चय न होना, संशय मिथ्यात्व कहलाता है।

¹अज्ञान मिथ्यात्व—जीवादि पदार्थों को—'यही है', 'इस प्रकार है'-इस तरह विशेष रूप से न समझने को अज्ञान मिथ्यात्व कहते है।

काल की विवक्षा से मिथ्यात्व के निम्नलिखित तीन भेद होते है-

(१) अनादि-अनन्त, (२) अनादि-सान्त, (३) सादि-सान्त।

इनमे से अनादि-अनन्त मिथ्यात्व अभव्य जीव को, अनादि-सान्त भव्य जीव को और सादि-सान्त उच्च गुणस्थान से पतित होकर निम्न गुणस्थान पर आने वाले जीव को होता है।

स्थानाग सूत्र मे मिथ्यात्व के निम्नप्रकार से दस भेद भी बताये है—

(१) अधर्म मे धर्म की बुद्धि, (२) धर्म में अधर्म की बुद्धि,
(३) उन्मार्ग मे मार्ग की बुद्धि, (४) मार्ग मे उन्मार्ग की बुद्धि,
(५) अजीव मे जीव की बुद्धि, (६) जीव मे अजीव की बुद्धि,
(७) असाधु में साधु की बुद्धि, (८) साधु में असाधु की बुद्धि,
(९) अमूर्त में मूर्त की पुद्धि, (१०) मूर्त में अमूर्त की बुद्धि।[1]

आगम मे वर्णित इन दसो भेदों के अतिरिक्त मिथ्यात्व के आभिग्राहिकादि पॉच तथा लौकिकादि दस—ऐसे पन्द्रह भेद और भी मिलते है। वे स्वतन्त्र भेद न होकर इन्ही दस प्रकार के मिथ्यात्वों का स्पष्टीकरण करने वाले है। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार है—

---

१. दस विहे मिच्छत्ते पण्णत्ते, त जहा—अधम्मे धम्मसण्णा, धम्मे अधम्मसण्णा, अमग्गे मग्गसण्णा, मग्गे उम्मग्गसण्णा, अजीवेसु जीवसण्णा, जीवेसु अजीवसण्णा, असाहुसु साहुसण्णा, साहुसु असाहुसण्णा अमुत्तेसु मुत्तसण्णा, मुत्तेसु अमुत्तसण्णा। —स्थानांग १०।७३४

(१) आभिग्रहिक, (२) अनाभिग्रहिक, (३) आभिनिवेशिक, (४) साशयिक, (५) अनाभोगिक, (६) लौकिकमिथ्यात्व, (७) लोकोत्तर मिथ्यात्व, (८) कुप्रावचिनक मिथ्यात्व, (९) न्यून मिथ्यात्व, (१०) अधिक मिथ्यात्व, (११) विपरीत मिथ्यात्व, (१२) अक्रिया मिथ्यात्व, (१३) अज्ञान मिथ्यात्व, (१४) अविनय मिथ्यात्व, (१५) आशातना मिथ्यात्व।

पूर्वोक्त दस और इन पन्द्रह भेदों को मिलाने से मिथ्यात्व के कुल पच्चीस भेद हो जाते है और इन सबको संक्षेप में कहा जाये तो नैसर्गिक मिथ्यात्व और परोपदेशपूर्वक मिथ्यात्व—ये दो भेद होंगे।

मिथ्यात्व गुणस्थान की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोनअर्धपुद्गलपरावर्तन[1] है।

(२) **सास्वादन गुणस्थान**—जा औपशमिक सम्यक्त्वी जीव अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से सम्यक्त्व को छोड़कर मिथ्यात्व की ओर झुक रहा है, किन्तु अभी तक मिथ्यात्व को प्राप्त नही किया है, तब तक अर्थात् जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवलिका पर्यन्त सास्वादन सम्यग्दृष्टि कहलाता है और उस जीव के स्वरूप विशेष को सास्वादन सम्यग्दृष्टि कहते है।

जिस प्रकार पर्वत से गिरने पर और भूमि पर पहुँचने के पहले मध्य का जो काल है, वह न पर्वत पर ठहरने का काल है और न भूमि

---

१. आहारक शरीर को छोडकर शेष औदारिकादि सात प्रकार की रूपी वर्गणाओं को ग्रहण करते हुए एक जीव द्वारा समस्त लोकाकाश के पुद्गलो का स्पर्श करना पुद्गलपरावर्तन कहलाता है। एक पुद्गलपरावर्तन व्यतीत होने मे अनन्त कालचक्र लग जाते है। उसका आधा हिस्सा अर्ध-पुद्गलपरावर्तन है और उस आधे हिस्से मे भी एक देश कम को देशोनअर्धपुद्गल परावर्तन कहते है। (विशेष परिशिष्ट मे देखिये।)

पर ठहरने का है, किन्तु अनुभयकाल है। इसीप्रकार अनन्तानुवन्धी कषायो के उदय होने से सम्यक्त्व परिणामो के छूटने पर और मिथ्यात्व परिणामों के प्राप्त न होने पर मध्य के अनुभय काल मे जो परिणाम होते हैं, उनको सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहते है।

इस गुणस्थान के समय यद्यपि जीव का झुकाव मिथ्यात्व की ओर होता है, तथापि जिस प्रकार खीर खाकर उसका वमन करने वाले को खीर का विलक्षण स्वाद अनुभव मे आता है। इसी प्रकार सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व की ओर उन्मुख हुए जीव को भी कुछ काल के लिए सम्यक्त्व गुण का आस्वादन अनुभव मे आता है। अतएव इस गुणस्थान को सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहा जाता है।

औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति विषयक प्रक्रिया इस प्रकार है—

अनन्तानुवन्धी कषायचतुष्क अर्थात् अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ और दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियाँ (सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व और मिथ्यात्व)—इन सातों के उपशम होने से आत्मा की जो तत्त्वरुचि होती है, वह औपशमिक सम्यक्त्व है। इसमे मिथ्यात्व प्रेरक—कर्मपुद्गल सत्ता मे रहकर भी राख मे दबी हुई अग्नि की तरह कुछ समय उपशान्त रहते है। इसके दो भेद हैं—ग्रन्थिभेद-जन्य और उपशमश्रेणिभावी।

ग्रन्थिभेद-जन्य औपशमिक सम्यक्त्व अनादि मिथ्यात्वी भव्य जीवो को प्राप्त होता है। प्राप्ति के समय जीवों द्वारा यथाप्रवृत्ति-करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण—ऐसे तीन करण (प्रयत्न-विशेष) किये जाते है। उनकी प्रक्रिया निम्नलिखित है—

जीव अनादि काल से संसार मे घूम रहा है और तरह-तरह से दु:ख उठा रहा है। जिस प्रकार पर्वतीय नदी मे पड़ा हुआ पत्थर लुढ़कते-लुढ़कते इधर-उधर टक्कर खाता हुआ गोल और चिकना बन

जाता है, उसी प्रकार जीव भी अनन्तकाल से दुःख सहते-सहते कोमल शुद्ध परिणामी बन जाता है। परिणाम-शुद्धि के कारण जीव आयु कर्म के सिवाय शेष सात कर्मों की स्थिति पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम एक कोड़ा-कोड़ी सागरोपम जितनी कर देता है। इस परिणाम को यथाप्रवृत्तिकरण कहते है। यथाप्रवृत्तिकरण वाला जीव रागद्वेष की मजबूत गाँठ तक पहुँच जाता है किन्तु उसे भेद नहीं सकता, इसको ग्रथिदेशप्राप्ति कहते है। कर्म और राग-द्वेष की यह गांठ क्रमशः दृढ़ और गूढ़ रेशमी गांठ के समान दुर्भेद्य है। यथाप्रवृत्तिकरण अभव्य जीवों के भी हो सकता है। कर्मों की स्थिति कोड़ा-कोड़ी सागरोपम के अन्दर करके वे जीव भी ग्रन्थिदेश को प्राप्त कर सकते है, किन्तु उसे भेद नही सकते।

भव्य जीव जिस परिणाम से राग-द्वेष की दुर्भेद्य ग्रथि को तोड़कर लांघ जाता है, उस परिणाम को अपूर्वकरण कहते है। इस प्रकार का परिणाम जीव को बार-बार नही आता, कदाचित् ही आता है, इसलिए इसका नाम अपूर्वकरण है। यथाप्रवृत्तिकरण तो अभव्य जीवों को भी अनन्त वार आता है, किन्तु अपूर्वकरण भव्य जीवों को भी अधिक वार नही आता।

अपूर्वकरण द्वारा राग-द्वेष की गांठ टूटने पर जीव के परिणाम अधिक शुद्ध होते है, उस समय अनिवृत्तिकरण होता है। इस परिणाम को प्राप्त करने पर जीव सम्यक्त्व प्राप्त किये विना नही लौटता है। इसीलिए इसका नाम अनिवृत्तिकरण है। अनिवृत्तिकरण की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। इस अनिवृत्तिकरण नामक परिणाम के समय वीर्य समुल्लास अर्थात् सामर्थ्य भी पूर्व की अपेक्षा वढ़ जाती है।

अनिवृत्तिकरण की जो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति वतलाई गई है, उस स्थिति का एक भाग शेप रहने पर अन्तरकरण की क्रिया शुरू

होती है, अर्थात् अनिवृत्तिकरण के अन्तसमय मे मिथ्यात्व मोहनीय के कर्मदलिकों को आगे-पीछे कर दिया जाता है। कुछ दलिकों को अनिवृत्तिकरण के अन्त तक उदय में आने वाले कर्म-दलिको के साथ कर दिया जाता है और कुछ को अन्तर्मुहूर्त वीतने के वाद उदय में आने वाले कर्मदलिको के साथ कर दिया जाता है। इससे अनिवृत्ति करण के वाद का एक अन्तर्मुहूर्त काल ऐसा हो जाता है कि जिसमें मिथ्यात्व मोहनीय का कोई कर्मदलिक नही रहता। अतएव जिसका आबाधाकाल पूरा हो चुका है—ऐसे मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के दो विभाग हो जाते है। एक विभाग वह है, जो अनिवृत्तिकरण के चरम समय पर्यन्त उदय में रहता है और दूसरा वह जो अनिवृत्तिकरण के बाद एक अन्तर्मुहूर्त बीतने पर उदय में आता है। इनमे से पहले विभाग को मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति और दूसरे को मिथ्यात्व की द्वितीय स्थिति कहते है। अन्तरकरणक्रिया के शुरू होने पर अनिवृत्ति करण के अन्त तक तो मिथ्यात्व का उदय रहता है, पीछे नही रहता है। क्योंकि उस समय जिन दलिकों के उदय की सम्भावना है, वे सब दलिक अन्तरकरण की क्रिया से आगे और पीछे उदय में आने योग्य कर दिये जाते है।

अनिवृत्तिकरण काल के बीत जाने पर औपशमिक सम्यक्त्व होता है। औपशमिक सम्यक्त्व के प्राप्त होते ही जीव को स्पष्ट एवं असदिग्ध प्रतीति होनी लगती है। क्योंकि उस समय मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का विपाक और प्रदेश दोनों प्रकार से उदय नही होता। इसलिए जीव का स्वाभाविक सम्यक्त्व गुण व्यक्त होता है। मिथ्यात्व रूप महान् रोग हट जाने से जीव को ऐसा आनन्द आता है, जैसे किसी पुराने एव भयंकर रोगी को स्वस्थ हो जाने पर। उस समय तत्त्वों पर दृढ श्रद्धा हो जाती है। औपशमिक सम्यक्त्व की

स्थिति अन्तर्मुहूर्त होती है, क्योंकि इसके बाद मिथ्यात्व मोहनीय के पुद्गल, जिन्हें अन्तरकरण के समय अन्तर्मुहूर्त के बाद उदय आने वाला बताया है, वे उदय में आ जाते है या क्षयोपशम रूप में परिणत कर दिये जाते है।

औपशमिक सम्यक्त्व के काल को उपशान्ताद्धा कहते है। उपशान्ताद्धा के पूर्व, अर्थात् अन्तरकरण के समय में जीव विशुद्ध परिणाम से द्वितीय स्थितिगत (औपशमिक सम्यक्त्व के बाद उदय में आने वाले) मिथ्यात्व के तीन पुज करता है। जिस प्रकार कोद्रवधान्य (कोदो नामक धान्य) का एक भाग औषधियो से साफ करने पर इतना शुद्ध हो जाता है कि खाने वाले को बिलकुल नशा नहीं आता, दूसरा भाग अर्द्ध शुद्ध और तीसरा भाग अशुद्ध रह जाता है, उसी प्रकार द्वितीय स्थितिगत मिथ्यात्व मोहनीय के तीन पुजों मे से एक पुंज इतना शुद्ध हो जाता है कि उसमे सम्यक्त्व घातक रस (सम्यक्त्व को नाश करने की शक्ति) नही रहता। दूसरा पुंज आधा शुद्ध और तीसरा पुज अशुद्ध ही रह जाता है।

औपशमिक सम्यक्त्व का समय पूर्ण होने पर जीव के परिणामानुसार उक्त तीन पुजों में से कोई एक अवश्य उदय में आता है। परिणामों के शुद्ध रहने पर शुद्ध पुज उदय में आता है, उससे सम्यक्त्व का घात नही होता। उस समय प्रगट होने वाले सम्यक्त्व को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते है। जीव के परिणाम अर्द्ध विशुद्ध रहने पर दूसरे पुज का उदय होता है और जीव मिश्रदृष्टि कहलाता है। परिणामों के अशुद्ध होने पर अशुद्ध पुंज का उदय होता है और उस समय जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

अन्तर्मुहूर्त प्रमाण उपशान्ताद्धा में जीव शान्त, प्रशान्त, स्थिर और पूर्णानन्द वाला होता है। जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवलि-

काएँ शेष रहने पर किसी-किसी औपशमिक सम्यक्त्व वाले जीव
चढ़ते परिणामों में विघ्न पड जाता है, अर्थात् उनकी शान्ति भग
जाती है। उस समय अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होने से जी
सम्यक्त्व परिणाम को छोड़कर मिथ्यात्व की ओर झुक जाता है। ज
तक वह मिथ्यात्व को प्राप्त नही करता, अर्थात् जघन्य एक समय औ
उत्कृष्ट छह आवलिकाओं तक सास्वादन भाव का अनुभव करता है
उस समय जीव सास्वादन सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। औपशमि
सम्यक्त्व वाला जीव सास्वादन सम्यग्दृष्टि हो सकता है, दूसरा नही।

उक्त कथन मे पल्योपम—सागरोपम का प्रमाण इस प्रका
समझना चाहिए—

एक योजन लम्बे, एक योजन चौडे एवं एक योजन गहरे गोल
कार कूप की उपमा से जो काल गिना जाए, उसे पल्योपम कहते
तथा दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम होता है।

सास्वादन गुणस्थान की समयस्थिति जघन्य एक समय अ
उत्कृष्ट छह आवलिका तक की है।

(३) **मिश्रगुणस्थान**—इसका पूरा नाम सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्था
है। किन्तु सक्षेप मे समझने के लिए मिश्र गुणस्थान कहते है।

मिथ्यात्व मोहनीय के अशुद्ध, अर्द्धशुद्ध और शुद्ध—इन तीनो पुं
में से अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय न होने से शुद्धता और मिथ्यात
के अर्द्ध शुद्ध पुद्गलों के उदय होने से अशुद्धता रूप जब अर्द्ध शुद्ध पु
का उदय होता है, तब जीव की दृष्टि कुछ सम्यक् (शुद्ध) और कु
मिथ्यात्व (अशुद्ध), अर्थात् मिश्र हो जाती है। इसी से वह जीव सम्य
ग्मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि) तथा उसका स्वरूपविशेष सम्यग्मिथ्या
दृष्टि गुणस्थान (मिश्र गुणस्थान) कहलाता है।

इस गुणस्थान के समय बुद्धि मे दुर्वलता-सी आ जाती है, जिसस

जीव सर्वज्ञ प्रणीत तत्त्वों पर न तो एकान्त रुचि करता है और न एकान्त अरुचि । किन्तु नारिकेल द्वीप में उत्पन्न मनुष्य को जैसे चावल आदि अन्न के विषय मे समभाव रहता है, वैसे मध्यस्थ रहता है । अर्थात् जिस द्वीप में प्रधानतया नारियल पैदा होता है, वहाँ के निवासियों ने चावल आदि अन्न न कभी देखा होता है और न सुना । इससे वे अदृष्ट और अश्रुत अन्न को देखकर उसके विषय में रुचि या घृणा नही करते । किन्तु मध्यस्थभाव ही रहते है । इसी प्रकार सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव भी सर्वज्ञ कथित मार्ग पर प्रीति या अप्रीति न करके समभाव ही रहते हैं ।

जिस प्रकार दही और गुड़ को परस्पर इस तरह से मिलाने पर कि फिर उन दोनो को पृथक्-पृथक् नही कर सकें, तब उसके प्रत्येक अंश का मिश्र रूप (कुछ खट्टा और कुछ मीठा— दोनों का मिला हुआ रूप) होता है । इसी प्रकार आत्मा के गुणों का घात करने वाली कर्म प्रकृतियो मे से सम्यग्‌मिथ्यात्व प्रकृति का कार्य विलक्षण प्रकार का होता है । उससे केवल सम्यक्त्व रूप या केवल मिथ्यात्व रूप परिणाम न होकर दोनो के मिले-जुले (मिश्र रूप) परिणाम होते है । अर्थात् एक ही काल मे सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूप परिणाम रहते है ।[1]

शंका—मिश्र रूप परिणाम ही नही हो सकने से यह तीसरा गुणस्थान वन नही सकता है । यदि विरुद्ध दो प्रकार के परिणाम एक ही आत्मा और एक ही काल मे माने जायें तो शीत-उष्ण की तरह परस्पर सहानवस्थान लक्षण विरोध दोष आयेगा । यदि क्रम से दोनों

---

१. दहिगुडमिव वा मिस्स पुहभाव णेव कारिदु सक्क ।
एव मिस्सय भावो सम्मामिच्छोत्ति णादव्वो ॥

—गोम्मट० जीव का० [illegible]

परिणामों की उत्पत्ति मानी जाये तो मिश्र रूप तीसरा गुणस्थान न
बनता है ।

समाधान—शंकाकार का उक्त कथन ठीक नही है, क्योंकि मित्र
मित्र न्याय से एक काल और एक ही आत्मा मे मिश्र रूप परिण
हो सकते हैं। जैसे कि देवदत्त नामक व्यक्ति मे यज्ञदत्त की अपे
मित्रपना और धर्मदत्त की अपेक्षा अमित्रपना—ये दोनों धर्म एक
काल में रहते है और उनमे कोई विरोध नही है। वैसे ही सर्वज्ञप्रणी
पदार्थ के स्वरूप के श्रद्धान की अपेक्षा समीचीनता और सर्वज्ञाभ
कथित अतत्त्व श्रद्धान की अपेक्षा मिथ्यापन ये दोनो ही धर्म
काल और एक आत्मा में घटित हो सकते हैं। इसमे कोई
विरोधादि दोष नहीं है।

मिश्र गुणस्थानवर्ती (सम्यग्मिथ्यादृष्टि) जीव परभव सम्ब
आयु का बन्ध नही कर सकता है[1] और मरण भी नही होता है।
इस गुणस्थान वाला जीव मरण करता है तो सम्यक्त्व या मिथ्य
रूप दोनो परिणामों मे से किसी एक को प्राप्त करके ही मर सकता
अर्थात् इस गुणस्थान को प्राप्त करने से पहले सम्यक्त्व या मिथ्य
रूप परिणामों में से जिस जाति के परिणाम काल में परभव सम्ब
आयु का बध किया हो तो उसी तरह के परिणाम होने पर उस
मरण होता है। इस गुणस्थान में मारणान्तिक समुद्घात भी नही
सकता है।[2] इसके अतिरिक्त सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव संयम (सर्व
संयम और एकदेश संयम) को ग्रहण नही कर सकता है।

---

१. सम्मामिच्छादिट्ठी आउ बंधपि न करेइ त्ति ।

२. मूल शरीर को विना छोड़े ही, आत्मा के प्रदेशो को बाहर निकल
को समुद्घात कहते है । उसके सात भेद है—वेदना, कषाय, वैक्रिय
मारणान्तिक, तैजस, आहार और केवल । मरण से पूर्व समय मे होने व
समुद्घात को मारणान्तिक समुद्घात कहते है ।

मिथ्यात्व मोहनीय के अर्द्ध विशुद्ध पुंज (सम्यग्मिथ्यात्व मिश्र) का उदय अन्तर्मुहूर्त मात्र पर्यन्त रहता है। इसके अनन्तर शुद्ध या अशुद्ध किसी एक पुज का उदय हो आता है। अतएव तीसरे गुण-स्थान की कालस्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण मानी जाती है।

(४) **अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान**—हिसादि सावद्य व्यापारों को छोड देने, अर्थात् पापजनक प्रयत्नों से अलग हो जाने को विरति कहते है।[1] चारित्र, व्रत विरति के ही नाम है। जो सम्यग्दृष्टि होकर भी किसी प्रकार के व्रत को धारण नही कर सकता, वह जीव अविरत सम्यग्दृष्टि है और उसके स्वरूप विशेष को अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहते है।

इस गुणस्थानवर्ती जीव को अविरत सम्यग्दृष्टि कहने और सम्यक्दर्शन के साथ सयम न होने का कारण यह है कि यहाँ पर एकदेश सयम के घातक अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय है।

सम्यग्दृष्टि जीव केवली द्वारा उपदिष्ट प्रवचन का श्रद्धान करता है। किन्तु अज्ञानतावश असद्भाव का भी श्रद्धान कर लेता है तो जैसे ही शास्त्रो द्वारा गुरुओं के समझाये जाने पर असमीचीन श्रद्धान को छोड़कर समीचीन श्रद्धान करना प्रारम्भ कर देता है। यदि गुरु, आचार्य आदि द्वारा समझाये जाने पर भी असमीचीन श्रद्धान को न छोड़े तो उसी समय मिथ्यादृष्टि कहा जाता है।

अविरत जीव सात प्रकार के होते है—

(१) जो व्रतों को न जानते है, न स्वीकारते है और न पालते है, ऐसे साधारण लोग।

---

१. हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरति र्व्रतम्।

—तत्त्वार्थसूत्र ७।१

(२) जो व्रतों को जानते नही, स्वीकारते नही, किन्तु पालते है, ऐसे अपने आप तप करने वाले बाल तपस्वी ।

(३) जो व्रतों को जानते नही है, किन्तु स्वीकारते है औ स्वीकार कर पालन नही करते है ऐसे ढीले—पासत्थे साधु जो सय लेकर निभाते नहीं है ।

(४) जिनको व्रतो का ज्ञान नही है, किन्तु उनको स्वीकार त पालन करते है । ऐसे अगीतार्थ मुनि ।

(५) जिनको व्रतो का ज्ञान है, किन्तु उनको स्वीकार तथ पालन नही करते है । जैसे श्रेणिक, श्रीकृष्ण आदि ।

(६) जो व्रतों को जानते है, स्वीकार नही करते, किन् पालन करते हैं । जैसे अनुत्तर विमानवासी देव ।

(७) जो व्रतो को जानते है, स्वीकारते है, किन्तु पीछे पाल नही करते है । जैसे संविग्न पाक्षिक ।

सम्यक् ज्ञान, सम्यक् ग्रहण और सम्यक् पालन से ही व्रत सफ होते है । जिनको व्रतों का सम्यक् ज्ञान नही, व्रतों को विधिपूर्व ग्रहण नही करते और जो व्रतो का यथार्थ पालन नही करते, घुणाक्षर न्याय से व्रतो को पाल भी ले, तो भी उससे फलप्राप्ति सम्भव नही है ।

अविरत के पूर्वोक्त सात प्रकारो मे से आदि के चा प्रकार के अविरत जीवों को व्रतों का ज्ञान ही नही होने से मिथ्या दृष्टि ही है । क्योंकि वे यथाविधि व्रतों को ग्रहण तथा पालन नह कर सकते, किन्तु उन्हे यथार्थ मानते है ।

अविरत सम्यग्दृष्टि जीवों मे कोई औपशमिक सम्यक्त्वी, को क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी और कोई क्षायिक सम्यक्त्वी होते है ।

इस गुणस्थान मे जन्म, मरण, आयुष्यबंध, परभव गमन इत्यादि होता है।

(५) देशविरत गुणस्थान—प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय के कारण जो जीव पापजनक क्रियाओं से सर्वथा तो नहीं किन्तु अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय न होने के कारण देश (अंश) से पापजनक क्रियाओं से अलग हो सकते हैं, वे देशविरत कहलाते हैं। देशविरत को श्रावक भी कहते है । इनका स्वरूप-विशेष देशविरत गुणस्थान है ।

इस गुणस्थानवर्ती जीव सर्वज्ञ वीतराग के कथन में श्रद्धा रखता हुआ त्रसहिसा से विरत होता ही है, किन्तु बिना प्रयोजन के स्थावर हिसा को भी नही करता है। अर्थात् त्रसहिसा के त्याग की अपेक्षा विरत, स्थावरहिसा की अपेक्षा अविरत होने से इस जीव को विरताविरत भी कहते है ।

इस गुणस्थान मे रहने वाले कई श्रावक एक व्रत लेते है, कई दो व्रत लेते है एव कई तीन, चार, पॉच यावत् वारह व्रत लेते है तथा श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं को धारण कर आत्मा का कल्याण करते है। इस प्रकार अधिक-से-अधिक व्रतों को पालन करने वाले श्रावक ऐसे भी होते है, जो पापकर्मो में अनुमति के सिवाय और किसी प्रकार से भाग नही लेते है ।

अनुमति के तीन प्रकार है-(१) प्रतिसेवानुमति, (२) प्रतिश्रवणानुमति, (३) सवासानुमति। अपने या दूसरे के किये हुए भोजन आदि का उपयोग करना प्रतिसेवानुमति है। पुत्र आदि किसी सम्वन्धी के द्वारा किये गये पापकर्मो को केवल सुनना और सुनकर भी उन कर्मो के करने मे उनको नही रोकना प्रतिश्रवणानुमति है। पुत्र आदि अपने सम्वन्धियों के पाप कार्य मे प्रवृत्त होने पर उनके ऊपर सिर्फ

ममता रखना, अर्थात् न तो पाप कार्य को सुनना और सुनकर भी न उसकी प्रशसा करना सवासानुमति है। जो श्रावक, पाप-जनक प्रारंभो में किसी प्रकार से भी योग नही देता, केवल सवासानुमति को सेवता है, वह अन्य सब श्रावकों में श्रेष्ठ है ।

देशविरत गुणस्थान मनुष्य और तिर्यच जाति वाले जीवों के ही होता है। प्रथम एक से चार तक के गुणस्थान चारों गति—देव मनुष्य, तिर्यच और नारक—के जीवो के हो सकते है।

इस गुणस्थान का काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट देशोन पूर्व कोटि पर्यन्त है।

प्रमत्तसंयत गुणस्थान—जो जीव पापजनक व्यापारो से विधिपूर्वक सर्वथा निवृत्त हो जाते है, वे संयत (मुनि) है। लेकिन संयत भी जब तक प्रमाद का सेवन करते है । तबतक वे प्रमत्तसयत कहलाते है और उनके स्वरूप-विशेष को प्रमत्तसयत गुणस्थान कहते है। इस गुणस्थानवर्ती जीव सावद्य कर्मो का यहाँ तक त्याग करते है कि पूर्वोक्त सवासानुमति को भी नही सेवते है।

यद्यपि सकल सयम को रोकने वाली प्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव होने से इस गुणस्थान मे पूर्ण संयम तो हो चुकता है, किंतु संज्वलन आदि कषायो के उदय से सयम में मल उत्पन्न करने वाले प्रमाद के रहने से इसे प्रमत्तसयत कहते है।

प्रमाद के पन्द्रह प्रकार होते है[1]—

चार विकथा (स्त्रीकथा, भक्तकथा, राष्ट्रकथा, चौरकथा)।

चार कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ)।

---

१. विकहा तहा कसाया इन्दियणिद्दा तहेव पणयो य ।
चदु चदु पण मेगेग होंति पमादा हु पण्णरस ॥
—गोम्मट० जीवकाण्ड ३४

पाँच इन्द्रियाँ (स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र) के विषयों में आसक्ति।

निद्रा और स्नेह।

इस गुणस्थान में देशविरति की अपेक्षा गुणों—विशुद्धि का प्रकर्ष और अप्रमत्तसयत की अपेक्षा विशुद्धि—गुण का अपकर्ष होता है। इस गुणस्थान में ही चतुर्दश पूर्वधारी मुनि आहारक लब्धि का प्रयोग करते है।

प्रमत्तसयत गुणस्थान की स्थिति जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट करोड़ पूर्व से कुछ कम प्रमाण है और यह तथा इससे आगे के गुणस्थान मनुष्यगति के जीवों के ही होते है।

(७) अप्रमत्तसंयत गुणस्थान—जो संयत (मुनि) विकथा, कषाय आदि प्रमादों को नहीं सेवते है, वे अप्रमत्त संयत है और उनका स्वरूप-विशेष जो ज्ञानादि गुणों की शुद्धि और अशुद्धि के तरतमभाव से होता है, अप्रमत्त सयत गुणस्थान कहलाता है। अर्थात् संज्वलन और नोकषायों का मन्द उदय होता है और जिसके व्यक्ता-व्यक्त प्रमाद नष्ट हो चुके है और ज्ञान, ध्यान, तप मे लीन सकल संयम संयुक्त संयत (मुनि) को अप्रमत्तसंयत कहते है।

प्रमाद के सेवन से ही आत्मा गुणों की शुद्धि से गिरता है। इसलिए इस गुणस्थान से लेकर आगे के सभी गुणस्थानों में वर्तमान मुनि अपने स्वरूप मे अप्रमत्त ही रहते है।

छठे प्रमत्तसयत गुणस्थान और सातवे अप्रमत्तसंयत गुणस्थान मे इतना ही अन्तर है कि सातवे गुणस्थान में थोड़ा-सा भी प्रमाद नही होता है, इसलिए व्रतों मे अतिचारादिक सम्भव नही है, किन्तु छठा गुणस्थान प्रमादयुक्त होने से व्रतो में अतिचार लगने की स [illegible] वना है। ये दोनों गुणस्थान प्रत्येक समय नही होते है, किन्तु

यन्त्र की सूई की तरह अस्थिर रहते है। अर्थात् कभी सातवे से छठा, कभी छठे से सातवा गुणस्थान क्रमशः होते रहते हैं।

अप्रमत्तसंयत गुणस्थान की समयस्थिति जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक की होती है। उसके वाद वे अप्रमत्त मुनि या तो आठवे गुणस्थान मे पहुँचकर उपशम, क्षपक श्रेणी ले लेते है या पुनः छठे गुणस्थान मे आ जाते है।

(८) **निवृत्ति वादर गुणस्थान**—इसको अपूर्वकरण गुणस्थान भी कहते है। अध्यवसाय, परिणाम, निवृत्ति—ये तीनो समानार्थवाचक शव्द है, जिसमें अप्रमत्त आत्मा की अनन्तानुवन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण—इन तीन चौक रूपी वादर कषाय की निवृत्ति हो जाती है, उस अवस्था को निवृत्ति वादर गुणस्थान कहते है।

अन्तर्मुहूर्त मे छठा और अन्तर्मुहूर्त मे सातवाँ गुणस्थान होता रहता है। परन्तु इस प्रकार छठे और सातवे गुणस्थान के स्पर्श से जो संयत (मुनि) विशेष प्रकार की विशुद्धि प्राप्त करके उपशम या क्षपक श्रेणि माड़ने वाला होता है, वह अपूर्वकरण नामक गुणस्थान मे आता है। दोनों श्रेणियों का प्रारम्भ यद्यपि नौवे गुणस्थान से होता है, किन्तु उनकी आधारशिला इस गुणस्थान मे रखी जाती है। आठवा गुणस्थान दोनों प्रकार की श्रेणियो की आधारशिला बनाने के लिए है और नौवे गुणस्थान मे श्रेणियाँ प्रारम्भ होती है। अर्थात् आठवे गुणस्थान में उपशमन या क्षपण की योग्यता मात्र होती है। आठवे गुणस्थान के समय जीव पाँच वस्तुओं का विधान करता है। वे ये है—

(१) स्थितिघात, (२) रसघात, (३) गुणश्रेणि, (४) गुणसंक्रमण और (५) अपूर्व स्थितिबंध। इनकी व्याख्या इस प्रकार है—

(१) **स्थितिघात**—कर्मो की बड़ी स्थिति को अपवर्तनाकरण द्वारा घटा देना, अर्थात् जो कर्मदलिक आगे उदय मे आने वाले हैं, उन्हें

अपवर्तनाकरण के द्वारा अपने उदय के नियत समयों से हटा देना स्थितिघात कहलाता है।

(२) **रसघात**—बँधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मों के फल देने की तीव्र शक्ति को अपवर्तनाकरण के द्वारा मन्द कर देना रसघात कहलाता है।

(३) **गुणश्रेणी**—जिन कर्मदलिको का स्थितिघात किया जाता है, अर्थात् जो कर्मदलिक अपने-अपने उदय के नियत समयों से हटाये जाते है, उनको समय के क्रम से अन्तर्मुहूर्त मे स्थापित कर देना गुणश्रेणि कहलाती है।

स्थापित करने का क्रम इस प्रकार है—

उदय समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त के जितने समय होते है, उनमे से उदयावलि के समयों को छोड़कर शेष रहे समयों में से प्रथम समय में जो दलिक स्थापित किये जाते है, वे कम होते हैं। दूसरे समय में स्थापित किये जाने वाले दलिक पहले समय में स्थापित दलिकों से असख्यात गुणे अधिक होते है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त के चरम समय पर्यन्त आगे-आगे के समय में स्थापित किये जाने वाले दलिक पहले-पहले के समय में स्थापित किये गये दलिकों से असंख्यात गुणे ही समझना चाहिए।

(४) **गुणसंक्रमण**—पहले बंधी हुई अशुभ प्रकृतियों को वर्तमान मे वध हो रही शुभ प्रकृतियों में स्थानान्तरित कर देना, अर्थात् पहले बँधी हुई अशुभ प्रकृतियो को वर्तमान मे बँधने वाली शुभ प्रकृतियो के रूप मे परिणत कर देना गुणसक्रमण कहलाता है। गुणसक्रमण का क्रम संक्षेप मे इस प्रकार है—

प्रथम समय मे अशुभ प्रकृतियो के जितने दलिकों का शुभ प्रकृति मे संक्रमण होता है, उसकी अपेक्षा दूसरे समय में असंख्यात गुण अधिक दलिकों का सक्रमण होता है, तीसरे मे दूसरे की अपेक्षा

यन्त्र की सूई की तरह अस्थिर रहते है। अर्थात् कभी सातवे से छठा, कभी छठे से सातवा गुणस्थान क्रमशः होते रहते हैं।

अप्रमत्तसयत गुणस्थान की समयस्थिति जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक की होती है। उसके बाद वे अप्रमत्त मुनि या तो आठवे गुणस्थान में पहुँचकर उपशम, क्षपक श्रेणी ले लेते है या पुनः छठे गुणस्थान मे आ जाते है।

(८) निवृत्ति बादर गुणस्थान—इसको अपूर्वकरण गुणस्थान भी कहते है। अध्यवसाय, परिणाम, निवृत्ति—ये तीनों समानार्थवाचक शब्द है, जिसमे अप्रमत्त आत्मा की अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण—इन तीन चौक रूपी बादर कषाय की निवृत्ति हो जाती है, उस अवस्था को निवृत्ति बादर गुणस्थान कहते है।

अन्तर्मुहूर्त मे छठा और अन्तर्मुहूर्त मे सातवाँ गुणस्थान होता रहता है। परन्तु इस प्रकार छठे और सातवे गुणस्थान के स्पर्श से जो संयत (मुनि) विशेष प्रकार की विशुद्धि प्राप्त करके उपशम या क्षपक श्रेणि माड़ने वाला होता है, वह अपूर्वकरण नामक गुणस्थान में आता है। दोनों श्रेणियों का प्रारम्भ यद्यपि नौवे गुणस्थान से होता है, किन्तु उनकी आधारशिला इस गुणस्थान मे रखी जाती है। आठवा गुणस्थान दोनों प्रकार की श्रेणियो की आधारशिला बनाने के लिए है और नौवे गुणस्थान मे श्रेणियाँ प्रारम्भ होती है। अर्थात् आठवे गुणस्थान मे उपशमन या क्षपण की योग्यता मात्र होती है। आठवे गुणस्थान के समय जीव पाँच वस्तुओं का विधान करता है। वे ये है—

(१) स्थितिघात, (२) रसघात, (३) गुणश्रेणि, (४) गुणसंक्रमण और (५) अपूर्व स्थितिबंध। इनकी व्याख्या इस प्रकार है—

(१) स्थितिघात—कर्मो की बड़ी स्थिति को अपवर्तनाकरण द्वारा घटा देना, अर्थात् जो कर्मदलिक आगे उदय मे आने वाले हैं, उन्हे

अपवर्तनाकरण के द्वारा अपने उदय के नियत समयों से हटा देना स्थितिघात कहलाता है।

(२) **रसघात**—बँधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मों के फल देने की तीव्र शक्ति को अपवर्तनाकरण के द्वारा मन्द कर देना रसघात कहलाता है।

(३) **गुणश्रेणी**—जिन कर्मदलिको का स्थितिघात किया जाता है, अर्थात् जो कर्मदलिक अपने-अपने उदय के नियत समयों से हटाये जाते है, उनको समय के क्रम से अन्तर्मुहूर्त मे स्थापित कर देना गुणश्रेणि कहलाती है।

स्थापित करने का क्रम इस प्रकार है—

उदय समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त के जितने समय होते है, उनमे से उदयावलि के समयों को छोड़कर शेष रहे समयों में से प्रथम समय में जो दलिक स्थापित किये जाते है, वे कम होते हैं। दूसरे समय मे स्थापित किये जाने वाले दलिक पहले समय में स्थापित दलिकों से असख्यात गुणे अधिक होते है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त के चरम समय पर्यन्त आगे-आगे के समय में स्थापित किये जाने वाले दलिक पहले-पहले के समय मे स्थापित किये गये दलिकों से असंख्यात गुणे ही समझना चाहिए।

(४) **गुणसंक्रमण**—पहले बंधी हुई अशुभ प्रकृतियों को वर्तमान मे वध हो रही शुभ प्रकृतियों मे स्थानान्तरित कर देना, अर्थात् पहले बँधी हुई अशुभ प्रकृतियों को वर्तमान मे बँधने वाली शुभ प्रकृतियो के रूप मे परिणत कर देना गुणसक्रमण कहलाता है। गुणसक्रमण का क्रम सक्षेप मे इस प्रकार है—

प्रथम समय में अशुभ प्रकृतियो के जितने दलिकों का शुभ प्रकृति में संक्रमण होता है, उसकी अपेक्षा दूसरे समय मे असंख्यात गुण अधिक दलिकों का संक्रमण होता है, तीसरे मे दूसरे की अपेक्षा

यन्त्र की सूई की तरह अस्थिर रहते है। अर्थात् कभी सातवे से छठा, कभी छठे से सातवा गुणस्थान क्रमशः होते रहते है।

अप्रमत्तसंयत गुणस्थान की समयस्थिति जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक की होती है। उसके बाद वे अप्रमत्त मुनि या तो आठवे गुणस्थान मे पहुँचकर उपशम, क्षपक श्रेणी ले लेते है या पुन: छठे गुणस्थान मे आ जाते है।

(८) निवृत्ति बादर गुणस्थान—इसको अपूर्वकरण गुणस्थान भी कहते है। अध्यवसाय, परिणाम, निवृत्ति—ये तीनों समानार्थवाचक शब्द है, जिसमे अप्रमत्त आत्मा की अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण—इन तीन चौक रूपी बादर कषाय की निवृत्ति हो जाती है, उस अवस्था को निवृत्ति बादर गुणस्थान कहते है।

अन्तर्मुहूर्त मे छठा और अन्तर्मुहूर्त मे सातवाँ गुणस्थान होता रहता है। परन्तु इस प्रकार छठे और सातवे गुणस्थान के स्पर्श से जो संयत (मुनि) विशेष प्रकार की विशुद्धि प्राप्त करके उपशम या क्षपक श्रेणि माड़ने वाला होता है, वह अपूर्वकरण नामक गुणस्थान मे आता है। दोनों श्रेणियों का प्रारम्भ यद्यपि नौवे गुणस्थान से होता है, किन्तु उनकी आधारशिला इस गुणस्थान मे रखी जाती है। आठवा गुणस्थान दोनो प्रकार की श्रेणियो की आधारशिला बनाने के लिए है और नौवे गुणस्थान मे श्रेणियाँ प्रारम्भ होती है। अर्थात् आठवे गुणस्थान में उपशमन या क्षपण की योग्यता मात्र होती है। आठवें गुणस्थान के समय जीव पाँच वस्तुओं का विधान करता है। वे ये है—

(१) स्थितिघात, (२) रसघात, (३) गुणश्रेणि, (४) गुणसंक्रमण और (५) अपूर्व स्थितिबंध। इनकी व्याख्या इस प्रकार है—

(१) स्थितिघात—कर्मो की बड़ी स्थिति को अपवर्तनाकरण द्वारा घटा देना, अर्थात् जो कर्मदलिक आगे उदय मे आने वाले है, उन्हे

अपवर्तनाकरण के द्वारा अपने उदय के नियत समयों से हटा देना स्थितिघात कहलाता है।

(२) **रसघात**—बँधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मों के फल देने की तीव्र शक्ति को अपवर्तनाकरण के द्वारा मन्द कर देना रसघात कहलाता है।

(३) **गुणश्रेणी**—जिन कर्मदलिकों का स्थितिघात किया जाता है, अर्थात् जो कर्मदलिक अपने-अपने उदय के नियत समयों से हटाये जाते है, उनको समय के क्रम से अन्तर्मुहूर्त में स्थापित कर देना गुणश्रेणि कहलाती है।

स्थापित करने का क्रम इस प्रकार है—

उदय समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त के जितने समय होते है, उनमें से उदयावलि के समयों को छोड़कर शेष रहे समयों में से प्रथम समय मे जो दलिक स्थापित किये जाते है, वे कम होते हैं। दूसरे समय मे स्थापित किये जाने वाले दलिक पहले समय में स्थापित दलिकों से असख्यात गुणे अधिक होते हैं। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त के चरम समय पर्यन्त आगे-आगे के समय में स्थापित किये जाने वाले दलिक पहले-पहले के समय में स्थापित किये गये दलिकों से असंख्यात गुणे ही समझना चाहिए।

(४) **गुणसंक्रमण**—पहले वधी हुई अशुभ प्रकृतियों को वर्तमान मे वध हो रही शुभ प्रकृतियों में स्थानान्तरित कर देना, अर्थात् पहले बँधी हुई अशुभ प्रकृतियों को वर्तमान में बँधने वाली शुभ प्रकृतियों के रूप में परिणत कर देना गुणसंक्रमण कहलाता है। गुणसंक्रमण का क्रम सक्षेप में इस प्रकार है—

प्रथम समय मे अशुभ प्रकृतियो के जितने दलिकों का शुभ प्रकृति मे संक्रमण होता है, उसकी अपेक्षा दूसरे समय में असंख्यात गुण अधिक दलिकों का संक्रमण होता है, तीसरे में दूसरे की अपेक्षा

असंख्यात गुण । इस प्रकार जब तक गुण-संक्रमण होता रहता है तब तक पहले-पहले समय में संक्रमण किये गये दलिकों से आगे-आगे के समय में असंख्यात गुण अधिक दलिकों का ही संक्रमण होता है।

(५) अपूर्व स्थितिबंध—पहले की अपेक्षा अत्यन्त अल्प स्थिति के कर्मों का बांधना अपूर्व स्थितिबंध कहलाता है।

यद्यपि स्थितिघात आदि ये पाँचों बातें पहले के गुणस्थानों में भी होती है, तथापि आठवे गुणस्थान मे ये अपूर्व ही होती है। क्योंकि पूर्व गुणस्थानो में अध्यवसायों की जितनी शुद्धि होती है, उसकी अपेक्षा आठवे गुणस्थान मे उनकी शुद्धि अधिक होती है। पहले के गुणस्थानों में बहुत कम स्थिति का और अत्यल्प रस का घात होता है परन्तु आठवे गुणस्थान में अधिक स्थिति और अधिक रस का घात होता है। इसी प्रकार पहले के गुणस्थानों में गुण-श्रेणि की कालमर्यादा अधिक होती है तथा जिन दलिकों की गुण-श्रेणि (रचना या स्थापना) की जाती है, वे दलिक अल्प होते हैं। और आठवें गुणस्थान में गुणश्रेणि योग्य दलिक तो बहुत अधिक होते है, किन्तु गुणश्रेणि का कालमान बहुत कम होता है। पहले के गुणस्थानों की अपेक्षा गुण संक्रमण बहुत कर्मों का होता है। अतएव वह अपूर्व होता है और आठवें गुणस्थान मे इतनी अल्प स्थिति के कर्म बाधे जाते है कि जितनी अल्प स्थिति के कर्म पहले के गुणस्थानों में कदापि नही बँधते है।

इस प्रकार इस गुणस्थान मे स्थितिघात आदि पदार्थों का अपूर्व विधान होने से इस गुणस्थान को अपूर्वकरण कहते है।

इस आठवे गुणस्थान से विशिष्ट योगी रूप आत्मा की अवस्था शुरू होती है, अर्थात् औपशमिक या क्षायिक भावरूप विशिष्ट फल पैदा करने के लिए चारित्र मोहनीय कर्म का उपशमन या क्षय करना

पड़ता है और वह करने के लिए भी तीन करण करने पडते है—यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण । उनमे यथाप्रवृत्तिकरण रूप सातवाँ गुणस्थान है, अपूर्वकरण रूप आठवाँ गुणस्थान है और अनिवृत्तिकरण रूप नौवाँ गुणस्थान है ।

जो अपूर्वकरण गुणस्थान को प्राप्त कर चुके है, कर रहे है और आगे प्राप्त करेगे, उन सब जीवों के अध्यवसायस्थानों (परिणाम भेदों) की सख्या असख्यात लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर है । क्योकि इस गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और अन्तर्मुहूर्त के असख्यात समय होते है । जिनमें से केवल प्रथम समयवर्ती तीनों कालों के जीवों के अध्यवसाय भी लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों के वरावर है। इसी प्रकार दूसरे-तीसरे आदि समयवर्ती त्रैकालिक जीवों के अध्यवसाय भी गणना में लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों के वरावर ही है ।

असख्यात संख्या के असंख्यात प्रकार है । अत: एक-एक समयवर्ती त्रैकालिक जीवों के अध्यवसायों की सख्या और सब समयों में वर्तमान त्रैकालिक जीवों के अध्यवसायों की संख्या—ये दोनों सख्याएं सामान्यतः एक-सी, अर्थात् असंख्यात ही है; फिर भी ये दोनो असख्यात सख्याएँ परस्पर भिन्न है ।

इस आठवे गुणस्थान के प्रत्येक समयवर्ती त्रैकालिक जीव अनन्त और उनके अध्यवसाय असख्यात ही होते है। इसका कारण यह है कि समान समयवर्ती अनेक जीवों के अध्यवसाय यद्यपि आपस में पृथक्-पृथक् (न्यूनाधिक शुद्धि वाले) होते है, तथापि समसमयवर्ती बहुत से जीवों के अध्यवसाय तुल्य शुद्धि वाले होने से अलग-अलग नही माने जाते है। प्रत्येक समय के असख्यात अध्यवसायों मे से जो अध्यवसाय कम शुद्धि वाले होते हैं, वे जघन्य और जो अध्यवसाय

अन्य सब अध्यवसायों की अपेक्षा अधिक शुद्धि वाले होते है, उत्कृष्ट कहलाते है।

इस प्रकार एक वर्ग जघन्य अध्यवसायों का और दूसरा वर्ग उत्कृष्ट अध्यवसायों का होता है। इन दोनों वर्गों के वीच मे असंख्यात वर्ग है, जिनके सव अध्यवसाय मध्यम कहलाते है। प्रथम वर्ग के जघन्य अध्यवसायो की शुद्धि की अपेक्षा अन्तिम वर्ग के उत्कृष्ट अध्यवसायों की शुद्धि अनन्तगुणी अधिक मानी जाती है और वीच के सब वर्गों में पूर्व-पूर्व वर्ग के अध्यवसायों की अपेक्षा परस्पर वर्ग के अध्यवसाय विशेष शुद्ध माने जाते है।

सामान्यत: इस प्रकार समझना चाहिए कि समसमयवर्ती अध्यवसाय एक दूसरे से—

(१) अनन्त भाग अधिक शुद्ध,

(२) असख्यात भाग अधिक शुद्ध,

(३) सख्यात भाग अधिक शुद्ध,

(४) संख्यात गुण अधिक शुद्ध,

(५) असंख्यात गुण अधिक शुद्ध,

(६) अनन्त गुण अधिक शुद्ध होते है।

इस प्रकार अधिक शुद्धि के पूर्वोक्त अनन्त भाग अधिक शुद्ध आदि छह प्रकारोंको षट्स्थान कहते है।[1]

इस प्रकार शुद्धिकरण के क्रम मे प्रथम समय के अध्यवसायों की

---

१ उत्कृष्ट की अपेक्षा हीन षट्स्थानो के नाम ये है—

(१) अनन्त भाग हीन, (२) असख्यात भाग हीन, (३) सख्यात भाग हीन, (४) संख्यात गुण हीन, (५) असख्यात गुण हीन, (६) अनन्त गुण हीन।

अपेक्षा दूसरे समय के अध्यवसाय भिन्न ही होते है तथा प्रथम समय के जघन्य अध्यवसायों से प्रथम समय के उत्कृष्ट अध्यवसाय अनन्त गुण विशुद्ध और प्रथम समय के उत्कृष्ट अध्यवसायों से दूसरे समय के जघन्य अध्यवसाय भी अनन्त गुण विशुद्ध होते है। इस प्रकार अन्तिम समय तक पूर्व-पूर्व समय के अध्यवसायों से पर पर समय के अध्यवसाय भिन्न-भिन्न समझने चाहिए और प्रत्येक समय के जघन्य अध्यवसाय से उस समय के उत्कृष्ट अध्यवसाय अनन्त गुण विशुद्ध समझना चाहिए तथा पूर्व-पूर्व समय के उत्कृष्ट अध्यवसायों की अपेक्षा पर पर समय के जघन्य अध्यवसाय भी अनन्तगुण विशुद्ध समझना चाहिए।

आठवे गुणस्थान का समय जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्त-र्मुहूर्त प्रमाण है।

(९) **अनिवृत्ति गुणस्थान**—इसका पूरा नाम अनिवृत्ति बादर संपराय गुणस्थान है। इसमें बादर (स्थूल) संपराय (कषाय) उदय में होता है तथा सम-समयवर्ती जीवों के परिणामों में समानता ही होने, किन्तु भिन्नता न होने से इस गुणस्थान को अनिवृत्ति बादर संपराय गुणस्थान कहते है।

इस गुणस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और एक अन्तर्मुहूर्त के जितने समय होते है, उतने ही अध्यवसाय-स्थान इस गुणस्थान के होते है। क्योंकि नौवे गुणस्थान में जो जीव सम-समयवर्ती होते है, उन सबके अध्यवसाय एक-से अर्थात् तुल्यशुद्धि वाले होते है। इसी प्रकार दूसरे, तीसरे आदि नौवे गुणस्थान के अन्तिम समय तक तुल्य समय मे वर्तमान त्रैकालिक जीवो के अध्यवसाय भी समान ही होते है और समान अध्यवसायों को एक ही अध्यवसाय-स्थान मान लिया जाता है। अर्थात् इस

गुणस्थान का जितना काल है, उतने ही उसके परिणाम है। इसलिए प्रत्येक समय में एक ही परिणाम होता है। अतएव यहाँ पर भिन्न समयवर्ती परिणामों में सर्वथा विसदृशता और एक समयवर्ती जीवों के परिणामों में सर्वथा सदृशता ही होती है तथा इन परिणामों के द्वारा कर्मो का क्षय होता है ।[1]

इसी वात को विशेष रूप से स्पष्ट करते है—

नौवे गुणस्थान के अध्यवसायों के उतने ही वर्ग हो सकते है जितने कि इस गुणस्थान के समय है। एक-एक वर्ग मे चाहे त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसायों की अनन्त व्यक्तियां शामिल हों, परन्तु उन-उन प्रत्येक वर्ग का अध्यवसाय-स्थान एक ही माना जाता है क्योंकि प्रत्येक वर्ग के सभी अध्यवसाय शुद्धि मे वरावर ही होते है लेकिन प्रथम समय के अध्यवसाय-स्थान से—प्रथम वर्गीय अध्यवसाय से—दूसरे समय के अध्यवसाय-स्थान—दूसरे वर्ग के अध्यवसाय अनन्त गुण विशुद्ध होते है। इसी प्रकार दूसरे, तीसरे, चौथे आदि नौवे गुणस्थान के अन्तिम समय तक पूर्व-पूर्व समय के अध्यवसाय से उत्तर-उत्तर समय के अध्यवसाय-स्थान अनन्तगुण विशुद्ध समझना चाहिए।

यद्यपि आठवे और नौवें गुणस्थान में अध्यवसायों मे विशुद्धि होती रहती है ; फिर भी उन दोनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ है। जैसे कि आठवें गुणस्थान मे सम-समयवर्ती त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसाय शुद्धि के तरतमभाव से असंख्यात वर्गो में विभाजित किये

---

१. ण णिवट्ट ति तहावि य परिणामेहिं मिहो जेहि ।
होंति अणियट्टिणो ते पडिसमय जेस्सि मेक्क परिणामा ।
विमलयर झाण हुयव ह सिहाहि णिद्दिट्ठ कम्मवणा ॥
—गो० जी० काण्ड ५६-५७

जा सकते है, किन्तु नौवे गुणस्थान में समसमयवर्ती त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसायों का समान शुद्धि के कारण एक ही वर्ग हो सकता है। पूर्व-पूर्व गुणस्थान की अपेक्षा उत्तर-उत्तर गुणस्थान में कपाय के अश वहुत कम होते जाते है और कषायों की न्यूनता के अनुसार जीव के परिणामों की विशुद्धि बढती जाती है। आठवें गुणस्थान की अपेक्षा नौवें गुणस्थान में विशुद्धि इतनी अधिक हो जाती है कि उसके अध्यवसायों की भिन्नताएँ आठवें गुणस्थान के अध्यवसायों की भिन्नताओं से वहुत कम हो जाती है।

नौवे गुणस्थान को प्राप्त करने वाले जीव दो प्रकार के होते है—(१) उपशमक और (२) क्षपक। जो चारित्र मोहनीय कर्म का उपशमन करते है, वे उपशमक और जो चारित्र मोहनीय कर्म का क्षपण करते है, वे क्षपक कहलाते है। मोहनीय कर्म की उपशमना अथवा क्षपणा करते-करते अन्य अनेक कर्मो का भी उपशमन या क्षपण करते है।

(१०) **सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान**—इस गुणस्थान में सम्पराय अर्थात् लोभकषाय के सूक्ष्म खण्डो का ही उदय होने से इसका सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान ऐसा सार्थक नाम प्रसिद्ध है। जिस प्रकार धुले हुए गुलाबी रंग के कपड़े मे लालिमा (सुर्खी) सूक्ष्म—झीनी-सी रह जाती है, उसी प्रकार इस गुणस्थानवर्ती जीव सज्वलन लोभ के सूक्ष्म खण्डों का वेदन करता है।

इस गुणस्थानवर्ती जीव भी उपशमक अथवा क्षपक होते है। लोभ के सिवाय चारित्र मोहनीय कर्म की दूसरी ऐसी प्रकृति ही नही होती, जिसका उपशमन या क्षपण नही हुआ हो। अत: जो उपशमक होते है, वे लोभकषाय मात्र का उपशमन और जो क्षपक होते है, वे लोभकषाय का क्षपण करते है।

सूक्ष्म लोभ का वेदन करने वाला चाहे उपशमश्रेणि का अथव क्षपकश्रेणि का आरोहण करने वाला हो, यथाख्यात चारित्र से कुछ ही न्यून रहता है। अर्थात् सूक्ष्म लोभ का उदय होने से यथाख्यात चारित्र के प्रगट होने में कुछ कमी रहती है।

इस गुणस्थान की जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त समय स्थिति है।

(११) **उपशांत कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान**—जिनके कषा उपशान्त हुए है, राग का भी सर्वथा उदय नही है और जिनको छद् (आवरणभूत घातिकर्म) लगे हुए है, वे जीव उपशान्त कषाय वीत राग छद्मस्थ है और उनके स्वरूप-विशेष को उपशान्त कषाय वीतरा छद्मस्थ गुणस्थान कहते है।

शरद्ऋतु मे होने वाले सरोवर के जल की तरह मोहनीय कर्म उपशम से उत्पन्न होने वाले निर्मल परिणाम इस गुणस्थान वाले जी के होते है। [1]आशय यह है कि मोहनीय कर्मो की सत्ता तो है पर उदय नही होता है।

'उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान' इस नाम मे (१) उपशान्त कषाय, (२) वीतराग, (३) छद्मस्थ—ये तीन विशेषण है। उनमें से 'छद्मस्थ' यह विशेषण स्वरूप-विशेषण है। क्योकि उस अभाव मे भी 'उपशान्त कषाय वीतराग गुणस्थान' इतने नाम

---

१. विशेषण दो प्रकार का होता है—(१) स्वरूप विशेषण, (२) व्यावर्त विशेषण। स्वरूप विशेषण—जिसके न रहने पर भी शेष भाग से इ अर्थ का बोध हो जाता है। अर्थात् यह विशेपण अपने विशेष्य के स्वरू मात्र को जताता है। (व्यावर्तक विशेपण—जिसके रहने से ही इष्ट अ का वोध हो सकता है। उसके अभाव मे इष्ट के सिवाय दूसरे अर्थ का भी वोध होने लगता है।)

ग्यारहवे गुणस्थान का बोध हो जाता है और इष्ट के अतिरिक्त दूसरे अर्थ का वोध नही होता है। अतः 'छद्मस्थ' यह विशेषण अपने विशेष्य के स्वरूप का बोध कराने वाला है।

'उपशान्त कषाय' और 'वीतराग' ये दो व्यावर्तक विशेषण है। इन दोनों के रहने से ही इष्ट अर्थ का बोध हो सकता है और इनके न रहने पर इष्ट अर्थ का बोध न होकर अन्य अर्थ का भी बोध हो जाता है। जैसे 'उपशान्त कषाय' इस विशेषण के अभाव में 'वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान' इतने नाम से इष्ट अर्थ (ग्यारहवे गुणस्थान) के सिवाय वारहवे गुणस्थान का भी बोध होने लगता है। क्योंकि वारहवे गुणस्थान मे भी जीव को छद्म (ज्ञानावरण आदि घातिकर्म) तथा वीतरागत्व (राग के उदय का अभाव) होता है, परन्तु उपशान्त कषाय इस विशेषण से वारहवे गुणस्थान का बोध नही हो सकता। क्योंकि वारहवे गुणस्थान में जीव के कषाय उपशान्त नही होते है, अपितु क्षय हो जाते है। इसी तरह 'वीतराग' इस विशेषण के अभाव मे उपशान्त कषाय छद्मस्थ गुणस्थान इतने नाम से चतुर्थ, पचम आदि गुणस्थानो मे भी जीव के अनन्तानुवन्धी कषाय उपशान्त हो सकने के कारण चतुर्थ, पंचम आदि गुणस्थानों का भी बोध होने लगता है। परन्तु वीतराग इस विशेषण के रहने से चतुर्थ, पंचम आदि गुणस्थानों का बोध नही हो सकता है। क्योकि उन गुणस्थानों मे वर्तमान जीव को राग (माया तथा लोभ) के उदय का सद्भाव ही होता है, अतएव वीतरागत्व असम्भव है।

इस गुणस्थान मे विद्यमान जीव आगे के गुणस्थानों को प्राप्त करने मे समर्थ नही होता है, क्योकि आगे के गुणस्थान वही पा सकता है, जो क्षपक श्रेणी को करता है और क्षपक श्रेणी के विना मोक्ष की प्राप्ति नही होती है। परन्तु ग्यारहवे गुणस्थानवर्ती जीव तो

नियम से उपशम श्रेणी को करने वाला ही होता है। अतएव वह जीव ग्यारहवे गुणस्थान से अवश्य ही गिरता है।

यदि गुणस्थान का समय पूरा न होने पर जो जीव भव (आयु) के क्षय से गिरता है तो वह अनुत्तर विमान मे देव रूप से उत्पन्न होता है और उस समय उस स्थान पर पाचवाँ आदि-आदि अन्य गुण-स्थान संभव न होने से चौथे ही गुणस्थान को प्राप्त करता है और चौथे गुणस्थान को प्राप्त कर वह जीव उस गुणस्थान मे उन सब प्रकृतियों के बंध, उदय, उदीरणा को प्रारम्भ कर देता है, जितनी कर्म प्रकृतियों के बंध, उदय, उदीरणा की सभावना उस गुणस्थान मे है परन्तु जब आयु के शेष रहते हुए गुणस्थान का समय पूरा हो जाने पर जो जीव गिरता है, वह पतन के समय आरोहण क्रम के अनुसार गुणस्थान को प्राप्त करता है और उस-उस गुणस्थान के योग्य कर्म प्रकृत्तियों का बध, उदय, उदीरणा करना प्रारम्भ कर देता है, अर्थात् आरोहण के समय आरोहण क्रम के अनुसार जिस-जिस गुणस्थान को पाकर जिन-जिन कर्म प्रकृतियों के बंध, उदय, उदीरणा का विच्छेद करता है, उसी प्रकार पतन के समय भी उस-उस गुणस्थान को पाकर वह जीव उन-उन कर्मप्रकृतियों के बध, उदय, उदीरणा को प्रारम्भ कर देता है और गुणस्थान का काल समाप्त हो जाने से गिरने वाला कोई जीव छठे गुणस्थान को, कोई पांचवे गुणस्थान को, कोई चौथे गुणस्थान को और कोई दूसरे गुणस्थान मे होकर पहले तक आ जाता है।

उपशम श्रेणि[1] के प्रारम्भ का क्रम सक्षेप मे इस प्रकार है—

---

१. कर्मग्रन्थ कर्ता के अभिप्रायानुसार एक जन्म मे दो से अधिक वार उपशम श्रेणी नही की जा सकती है और क्षपक श्रेणी एक ही बार होती है। जिसने एक वार उपशम श्रेणी की है, वह उस जन्म मे क्षपक श्रेणी कर मोक्ष

चौथे, पांचवे, छठे और सातवे गुणस्थान में से किसी भी गुणस्थान मे वर्तमान जीव पहले अनन्तानुबन्धी क्रोधादि चारों कषायों का उपशमन करता है। अनन्तर अन्तर्मुहूर्त में दर्शन मोहनीय त्रिक (सम्यक्त्व, सम्यक्त्व-मिथ्यात्व, मिथ्यात्व) का एक साथ उपशम करता है। इसके वाद वह जीव छठे और सातवे गुणस्थान में अनेक बार आता-जाता रहता है। वाद में आठवे गुणस्थान मे होकर नौवे गुणस्थान को प्राप्त करके वहाँ चारित्र मोहनीय कर्म की शेष प्रकृतियों का उपशम प्रारम्भ करता है, जो इस प्रकार है—सबसे पहले नपु सक वेद और उसके बाद क्रमशः स्त्री वेद, हास्यादि षट्क (हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा), पुरुष वेद, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण क्रोध युगल, सज्वलनक्रोध, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण मानयुगल, सज्वलन मान, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण मायायुगल, सज्वलन माया, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण लोभयुगल को तथा दसवे गुणस्थान मे सज्वलन लोभ को उपशान्त करता है।

ग्यारहवे गुणस्थान की काल मर्यादा जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

(१२) क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान—मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय होने के पश्चात् ही यह गुणस्थान प्राप्त होता है। इस गुणस्थानवर्ती जीव के भाव स्फटिक मणि के निर्मल पात्र मे रखे

प्राप्त कर सकता है। परन्तु जो दो वार उपशम श्रेणी कर चुका है, वह उसी जन्म मे क्षपक श्रेणी नही कर सकता है। परन्तु सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि जीव एक जन्म में एक वार ही श्रेणी कर सकता है। इसलिए जिसने एक वार उपशम श्रेणी की है, वह पुनः उसी जन्म मे क्षपक श्रेणी नहीं कर सकता है।

हुए जल के समान निर्मल होने है। क्योंकि यहाँ मोहनीय कर्म सर्वथा क्षय हो जाते है। सत्ता भी नही रहती है।।

जो मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय कर चुके है, किन्तु शेप छद्म (घातिकर्म का आवरण) अभी विद्यमान है, उनको क्षीण कषाय वीतराग छद्मस्थ कहते है और उनके स्वरूप विशेप को क्षीण कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान कहते है।

इस वारहवे गुणस्थान के नाम मे—(१) क्षीण कपाय, (२) वीतराग और (३) छद्मस्थ—ये तीनों व्यावर्तक विशेषण है। क्योंकि 'क्षीणकषाय' इस विशेषण के अभाव मे 'वीतराग छद्मस्थ' इतने नाम से बारहवे गुणस्थान के सिवाय ग्यारहवें गुणस्थान का भी बोध होता है और क्षीणकषाय इस विशेषण को जोड़ लेने से बारहवे गुणस्थान का ही बोध होता है। क्योंकि ग्यारहवे गुणस्थान मे कषाय क्षीण नही होते, किन्तु उपशान्त मात्र होते हैं। 'वीतराग' इस विशेषण से रहित क्षीण कषाय छद्मस्थ गुणस्थान इतने नाम से बारहवे गुणस्थान के सिवाय चतुर्थ आदि गुणस्थान का भी बोधक हो जाता है। क्योंकि उन गुणस्थानों मे भी अनन्तानुबधी आदि कषायों का क्षय हो सकता है। लेकिन वीतराग इस विशेषण के होने से उन चतुर्थ आदि गुणस्थानो का बोध नही होता है। क्योंकि किसी-न-किसी अंश में राग का उदय उन गुणस्थानो मे रहता है। जिससे वीतरागत्व असभव है। इसी प्रकार 'छद्मस्थ' इस विशेषण के न रहने से भी क्षीणकषाय वीतराग इतना नाम वारहवें गुणस्थान के अतिरिक्त तेरहवे और चौदहवे गुणस्थान का भी बोधक हो जाता है। परन्तु छद्मस्थ इस विशेषण के रहने से बारहवे गुणस्थान का ही बोध होता है। क्योंकि तेरहवे और चौदहवे गुणस्थान में विद्यमान जीव के छद्म (घातिकर्म का आवरण) नही होता है।

इस प्रकार क्षीणकषाय वीतराग छद्‌मस्थ गुणस्थान कहने से वारहवे गुणस्थान की यथार्थ स्थिति का ज्ञान होता है और सम्बन्धित अन्य आशकाओ का समाधान हो जाता है।

वारहवाँ गुणस्थान प्राप्त करने के लिए मोहनीयकर्म का क्षय होना जरूरी है और क्षय करने के लिए क्षपक श्रेणि की जाती है। अत. यहाँ सक्षेप में क्षपक श्रेणि का क्रम बतलाते है।

क्षपक श्रेणि को करने वाला जीव चौथे से लेकर सातवे गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान में सवसे पहले अनन्तानुबंधी चतुष्क[1] और दर्शनत्रिक[2] इन सात प्रकृतियों का क्षय करता है। इसके अनन्तर आठवे गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क[3] और प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क[4]—इन आठ कर्मप्रकृतियों के क्षय को प्रारम्भ करता है। ये आठ प्रकृतियाँ पूर्ण रूप से क्षय नही हो पाती कि बीच मे ही नौवे गुणस्थान के प्रारम्भ में स्त्यानर्द्धित्रिक[5] नरकद्विक[6], तिर्यग्द्विक[7], जातिचतुष्क[8] और आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण इन सोलह प्रकृतियो का क्षय कर डालता है। इसके अनन्तर अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क और

१ अनन्तानुवन्धी क्रोध, अनन्ता० मान, अनन्ता० माया, अनन्ता० क्रोध।
२. दर्शन मोहनीय के तीन भेद—सम्यक्त्व मोहनीय. सम्यक्त्व-मिथ्यात्व मोहनीय (मिश्र मोहनीय), मिथ्यात्व मोहनीय।
३ अप्रत्याख्यानावरण क्रोध. मान, माया, लोभ।
४. प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ।
५. निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि।
६. नरकगति, नरक-आनुपूर्वी।
७ तिर्यंच गति, तिर्यंच-आनुपूर्वी।
८ एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति।

प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का क्षय होने से शेप बचा हुआ भाग क्षय करता है और नौवे गुणस्थान के अन्त मे क्रम से नपुसक वेद, स्त्री वेद, हास्यादिषट्क, पुरुष वेद, संज्वलन क्रोध, मान और माया का क्षय करता है। अन्त मे दसवे गुणस्थान में सज्वलन लोभ का भी क्षय कर देता है। इस प्रकार सपूर्ण मोहनीयकर्म का क्षय होने पर बारहवे गुणस्थान की प्राप्ति होती है।

बारहवे गुणस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट काल स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और इस गुणस्थान में वर्तमान जीव क्षपक श्रेणि वाले ही होते है।

(१३) **सयोगिकेवली गुणस्थान**—जो चार घाति कर्मो (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय) का क्षय करके केवल ज्ञान और दर्शन प्राप्त कर चुके है, जो पदार्थ के जानने-देखने में इन्द्रिय, आलोक आदि की अपेक्षा नही रखते है और योग (आत्म वीर्य, शक्ति, उत्साह, पराक्रम) से सहित है, उन्हे सयोगिकेवली कहते है, और उनके स्वरूप-विशेष को सयोगिकेवली गुणस्थान कहते है। सयोगिकेवली को घाति-कर्म से रहित होने के कारण जिन, जिनेन्द्र, जिनेश्वर भी कहा जाता है।[1]

मन, वचन और काय इन तीन साधनो से योग की प्रवृत्ति होती है। अतएव योग के भी अपने साधन के अनुसार तीन भेद होते है—

(१) मनोयोग, (२) वचनयोग, (३) काययोग। केवली भगवान को मनोयोग का उपयोग किसी को मन से उत्तर देने में करना पड़ता है। जिस समय कोई मन.पर्यायज्ञानी अथवा अनुत्तरविमान

---

१ असहाय णाणदसण सहिओ इदि केवली हु जोगेण।
जुत्तोत्ति सजोगिजिणो अणाइणिह णारिसे उत्तो॥
—गोम्मट० जीवकाण्ड ६४

वासी देव भगवान से शब्द द्वारा न पूछकर मन द्वारा प्रश्न आदि पूछता है, तव केवलज्ञानी उसके प्रश्न का उत्तर मन से ही देते है। प्रश्नकर्ता मन·पर्यायज्ञानी अथवा अनुत्तर विमानवासी देव केवली भगवान द्वारा उत्तर देने के लिए सगठित किये गए मनोद्रव्यों को अपने मन.पर्यायज्ञान अथवा अवधिज्ञान से प्रत्यक्ष देख लेता है और देखकर मनोद्रव्यो की रचना के आधार से अपने प्रश्न का उत्तर अनुमान से जान लेता है। उपदेश देने के लिए केवली भगवान वचन-योग का तथा हलन-चलन आदि क्रियाओं मे काययोग का उपयोग करते है।

सयोगीकेवली मे यदि कोई तीर्थंकर हों तो वे तीर्थ की स्थापना करते है और देशना देकर तीर्थ का प्रवर्तन करते है।

इस गुणस्थान का काल जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट कुछ कम करोड़ पूर्व वर्ष तक का है।

(१४) **अयोगिकेवली गुणस्थान**—जो केवली भगवान योगो से रहित है, वे अयोगिकेवली कहलाते है, अर्थात् जब सयोगिकेवली मन, वचन और काया के योगों का निरोध कर योग रहित होकर शुद्ध आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेते है, तव वे अयोगिकेवली कहलाते है और उनके स्वरूप-विशेप को अयोगिकेवली गुणस्थान कहते है।

इस गुणस्थान मे मोक्ष प्राप्त करने की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, अर्थात् मोक्ष का प्रवेशद्वार है। तीनों योगों का निरोध करने से अयोगि अवस्था प्राप्त होती है। केवली भगवान सयोगी अवस्था में अपनी आयु के अनुसार रहते है। परन्तु जिन केवली भगवान के चार अघाती कर्मो मे से आयु कर्म को स्थिति व पुद्गल परमाणुओं (प्रदेशों) की अपेक्षा वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीन कर्मो की स्थिति और

पुद्गल परमाणु अधिक होते है, वे समुद्घात[1] करते है और इसके द्वारा वे आयुकर्म की स्थिति एव पुद्गल परमाणुओं के बराबर वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की स्थिति व पुद्गल परमाणुओं को कर लेते है।

---

१. केवली भगवान द्वारा यह समुद्घात होने से केवलीसमुदघात कहलाता है।

इस समुद्घात मे आठ समय लगते हे। पहले समय मे केवली के आत्मप्रदेश दण्ड के आकार बनते है। यह दण्ड मोटा तो अपने शरीर जितना एव लम्बा लोकपर्यन्त चौदह रज्जू का होता है। दूसरे समय मे वह दण्ड पूर्व-पश्चिम या उत्तर-दक्षिण लोक पर्यन्त फैलकर कपाट का रूप लेता है। तीसरे समय मे वह कपाट उत्तर-दक्षिण या पूर्व-पश्चिम मे फैलकर मथानी के तुल्य बनता है। ऐसा होने से लोक का अधिक भाग केवली के आत्मप्रदेशो से व्याप्त हो जाता है, फिर भी मथानी की आकृति होने से आकाश के कुछ अन्तराल प्रदेश खाली रह जाते है, अत चौथे समय मे प्रतर स्थिति द्वारा उन खाली रखे हुए सब आकाश प्रदेशो पर केवली के आत्मप्रदेश पहुँच जाते है। उस समय प्रत्येक लोकाकाश के प्रदेशो पर केवली के आत्मप्रदेश होते है एव उनकी आत्मा समस्त लोक मे व्याप्त हो जाती है, क्योकि एक जीव के असख्य प्रदेश और लोकाकाश के असख्य प्रदेश बराबर है।

इस क्रिया के बाद आपस आत्मप्रदेशो का सकोच होने लगता है। जैसे पाँचवे समय मे अन्तराल प्रदेश खाली होकर पुन मथानी बन जाती है, छठे समय कपाट बन जाता है, सातवे समय दण्ड बन जाता है। एव आठवे समय मे केवली आत्मा अपने मूल रूप मे आ जाती है।

यह समुद्घात की क्रिया स्वाभाविक होती है। इसमे काल आठ समय मात्र जितना लगता है। इस समुद्घात की क्रिया से आयुष्य कर्म की स्थिति से अधिक स्थिति वाले अघाती कर्मो की निर्जरा हो जाती है। फिर वे केवली अन्तर्मुहूर्त के अन्दर मोक्ष चले जाते है।

यद्यपि मोहनीय आदि चार घातीकर्मों का आत्यन्तिक क्षय हो जाने से वीतरागत्व और सर्वज्ञत्व प्रकट होते है, फिर भी उस समय वेदनीय आदि चार अघाती कर्म शेष रहते है, जिससे मोक्ष नही होता है। अत इन शेष रहे हुए कर्मों का क्षय भी आवश्यक है। जब इन कर्मों का भी क्षय होता है, तभी सम्पूर्ण कर्मों का अभाव होकर जन्म-मरण का चक्कर बन्द पड़ जाता है और यही मोक्ष है। लेकिन अघाती कर्मों में से आयु कर्म की स्थिति कम हो और शेष तीन—वेदनीय, नाम और गोत्र—अघाति कर्मों की स्थिति आदि अधिक हो तो उनका आयुकर्म के साथ ही क्षय होना संभव नही होता है। इसलिए आयु-कर्म की स्थिति आदि के साथ ही उन कर्मों की स्थिति आदि के क्षय करने के लिए केवली भगवान द्वारा समुद्घात किया जाना अपरिहार्य होता है।

परन्तु जिन केवलज्ञानियों के वेदनीय आदि तीनों अघाती कर्म स्थिति और पुद्गल परमाणुओं मे आयु कर्म के बराबर है, उनको समुद्घात करने की आवश्यकता नही है। अतएव वे समुद्घात नही करते है।

सभी केवलज्ञानी सयोगी अवस्था के अन्त मे परम निर्जरा के कारणभूत तथा लेश्या से रहित अत्यन्त स्थिरता रूप ध्यान के लिए योगों का निरोध करते है। जिनके निरोध का क्रम इस प्रकार है—

इस समुद्घात की क्रिया मे मन, वचन के योगो की प्रवृत्ति नही होती, केवल काययोग होता है। उसमे भी पहले-आठवे समय मे औदारिक काययोग, दूसरे, छठे, सातवे समय मे औदारिक मिश्र काययोग एव तीसरे, चौथे, पाचवे समय कार्मण काययोग होता है। केवली समुद्घात सामान्य केवलियों के ही होता है लेकिन तीर्थंकरो के नहीं होता है।

सर्वप्रथम वादर (स्थूल) काययोग से वादर मनोयोग और वादर वचनयोग को रोकते है। अनन्तर उसी सूक्ष्म काययोग से वादर काययोग को रोकते है । अनन्तर उसी सूक्ष्म काययोग से क्रमशः सूक्ष्म मनोयोग और सूक्ष्म वचनयोग को रोकते हैं । अन्त मे सूक्ष्म क्रियाऽनिवृत्ति शुक्ल ध्यान[1] के वल से केवली भगवान् सूक्ष्म काययोग को भी रोक देते है । इस प्रकार योगों का निरोध हो जाने से सयोगी केवली भगवान् अयोगी वन जाते है,। साथ ही उसी सूक्ष्म क्रियाऽ-निवृत्ति शुक्लध्यान की सहायता से अपने शरीर के भीतरी पोले भाग —मुख, उदर आदि भाग को आत्मा के प्रदेशों से पूर्ण कर देते है।

उनके आतमप्रदेश इतने संकुचित—घने हो जाते हैं कि वे शरीर के दो तिहाई (२।३) हिस्से मे ही समा जाते है । इसके वाद वे अयोगि केवली भगवान् समुच्छिन्न क्रियाऽप्रतिपाति शुक्लध्यान[2] को प्राप्त करते है और पांच ह्रस्वाक्षर (अ,इ,उ,ऋ,लृ) के उच्चारण करने

---

१. जब सर्वज्ञ भगवान् योग निरोध के क्रम में अन्तत सूक्ष्म काययोग के आश्रय से दूसरे बाकी के योगो को रोक देते है, तब वह सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्ति शुक्लध्यान कहलाता है । क्योंकि उसमे श्वास-उच्छ्वास के समान सूक्ष्म क्रिया ही वाकी रह जाती है और उसमें से पतन-परिवर्तन होना भी सभव नही है।

२. इस ध्यान मे शरीर की श्वास-प्रश्वास आदि सूक्ष्म क्रियाए भी वद हो जाती है और आत्मप्रदेश सर्वथा निष्प्रकंप हो जाते है । क्योकि इसमे स्थूल या सक्ष्म किसी किस्म की भी मानसिक, वाचिक, कायिक क्रिया ही नही होती और वह स्थिति वाद मे जाती भी नही है । इस ध्यान के प्रभाव मे सर्व आस्रव और वध का निरोध होकर सर्व कर्म क्षीण हो जाने से मोक्ष प्राप्त होता है ।

जितने समय का शैलेशीकरण[1] करने के द्वारा चारों अघाती कर्मों (वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु) का सर्वथा क्षय कर देते है और उक्त कर्मों का क्षय होते ही वे एक समय मात्र में ऋजुगति से ऊपर की ओर सिद्धि क्षेत्र में चले जाते है।

जिस प्रकार मिट्टी के लेपों से युक्त तुम्बा लेपों के हट जाने पर अपने स्वभावानुसार जल के तल से ऊपर की ओर चला आता है और जल की ऊपरी सतह पर स्थिर हो जाता है। उसी प्रकार कर्म-मल के हट जाने से शुद्ध आत्मा भी ऊर्ध्वगति करने का स्वभाव होने से ऊपर लोक के अग्रभाग तक गति करके वहां स्थित हो जाती है।

शुद्ध आत्मा के लोक के अग्रभाग मे स्थित होने और उसकी ऊर्ध्व-गति लोक[2] के अन्त से आगे न होने का कारण यह है कि उसके अनन्तर गति के कारण धर्मास्तिकाय का अभाव है। इसलिए मुक्त जीव ऊपर लोकान्त तक ही गति करते है।

---

१. शैलेशो मेरु. तस्येयम् स्थिरतावस्था साम्यात् शैलेशी। यद्वा, सर्व-सवरशीलेश आत्मा तस्येय योगनिरोधावस्था शैलेशी, तस्या करणं वेदनीय, नाम, गोत्र कर्मत्रयस्यासंख्येय गुणया श्रेण्या निर्जरण शैलेशीकरणम्। मेरु पर्वत के समान निश्चल अवस्था अथवा सर्व सवर रूप योग निरोध अवस्था को शैलेशी कहते है। उस अवस्था मे वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीनो कर्मों की असख्यात गुण-श्रेणी से और आयु कर्म की यथास्थिति से निर्जरा करना शैलेशीकरण कहलाता है।

२. आकाश के जितने क्षेत्र मे जीव, पुद्गल, धर्म आदि षड्द्रव्यो की स्थिति है उसे लोक और जहाँ आकाश के सिवाय जीवादि द्रव्यो की स्थिति नहीं है, उसे अलोक कहते है। यही विभिन्नता लोक और अलोक के स्वरूप का भेद कराने मे कारण है। इसीलिए धर्मास्तिकाय लोक मे विद्यमान है,

ये लोक के अग्रभाग मे विराजमान परमात्मा सिद्ध भगवन्त ज्ञाना-वरणादि द्रव्य और भाव कर्मो से रहित, अनन्त सुख रूपी अमृत का अनुभव कराने वाली शांति सहित, नवीन कर्मवध के कारणभूत मिथ्यादर्शन आदि मैल से रहित, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अव्याबाध, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व इन आठ गुणों सहित, नित्य और कृत-कृत्य (जिनको कोई कार्य करना बाकी नही रहा है) है।

कर्मबंध के कारण जीव जन्ममरण रूप संसार में परिभ्रमण करता है। कर्मबध और उसके हेतुओं के अभाव एव निर्जरा से कर्मो का आत्य-न्तिक क्षय होता है और कर्मबध का सर्वथा क्षय ही मोक्ष है। ससारी जीवों के नवीन कर्मो का बध और पूर्वबद्ध कर्मो की निर्जरा होते रहने का क्रम चलता रहता है। जिससे आत्मस्वरूप की प्राप्ति नही हो पाती है। लेकिन कर्मो की निर्जरा के साथ-साथ कर्मबध एवं उसके हेतुओ का भी अभाव होते जाने से जीव आत्मोपलब्धि की ओर बढ़ते हुए अनन्त ज्ञान-दर्शन आदि रूप आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

कर्मो की निर्जरा सम्यक्त्व की प्राप्ति से प्रारम्भ होकर सर्वज्ञ अवस्था में पूर्ण होती है। इसमें क्रमश· पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर परिणामों मे विशुद्धि सविशेष वढती जाती है। परिणामों में विशुद्धि जितनी अधिक होगी उतनी ही कर्मनिर्जरा भी विशेष होगी। अर्थात् पूर्व- पूर्व की अवस्थाओं मे जितनी कर्मनिर्जरा होती है, उसकी अपेक्षा आगे-आगे की अवस्थाओं में परिणामों की विशुद्धि अधिक-अधिक होने से कर्मनिर्जरा असख्यात गुणी बढती जाती है और इस प्रकार बढते-

---

उसके वाहर विद्यमान नही है। यदि लोक के वाहर धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यो की स्थिति मानी जाये तो लोकाकाश और अलोकाकाश का भेद समाप्त हो जायेगा।

बढते अन्त में सर्वज्ञ अवस्था में निर्जरा का प्रमाण सबसे अधिक हो जाता है।

कर्मनिर्जरा के प्रस्तुत तरतमभाव में सबसे कम निर्जरा सम्यग्दृष्टि की और सबसे अधिक सर्वज्ञ की होती है। कर्मनिर्जरा के बढते क्रम की अवस्थाओं के नाम इस प्रकार हैं—

सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबंधीवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, मोहोपशमक, उपशान्तमोह, क्षपक, क्षीणमोह और जिन अनुक्रम से असख्येय गुण निर्जरा वाले होते है।[1] लेकिन पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर समय कम लगता है, अर्थात् सम्यग्दृष्टि के कर्मनिर्जरा में जितना समय लगता है, उसकी अपेक्षा श्रावक को कर्मनिर्जरा में संख्यातगुण कम काल लगता है। इसी प्रकार विरत आदि मे आगे-आगे के लिए समझना चाहिए।

उक्त चौदह गुणस्थानों मे से १, ४, ५, ६, १३, ये पांच गुणस्थान लोक में शाश्वत है, अर्थात् सदा रहते हैं, और शेष नौ गुणस्थान अशाश्वत है। परभव मे जाते समय जीव के पहला, दूसरा और चौथा ये तीन गुणस्थान रहते हैं। ३, १२, १३ ये तीन गुणस्थान अमर है,

---

१. (क) सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः।

—तत्त्वार्थसूत्र ६-४७

(ख) सम्मत्तुप्पत्तीये सावयविरदे अणतकम्मसे।
दसणमोहक्खवगे कसायउवसामगे य उवसते॥
खवगे य खीणमोहे जिणेसु दव्वा असखगुणिदकमा।
तव्विवरीया काला संखेज्ज गुणक्कमा होंति॥

—गो० जीवकाण्ड ६६-६७

अर्थात् इनमें जीव का मरण नही होता है। १, २, ३, ५, और ११ ये पाँच गुणस्थान तीर्थंकर नही फरसते है। ४, ५, ६, ७, ८ इन पाँच गुणस्थानों में ही जीव तीर्थंकर गोत्र बाधता है। १२, १३ और १४ ये तीन गुणस्थान अप्रतिपाती है, अर्थात् आने के बाद नही जाते है। १, ४, ७, ८, ९, १०, १२, १३, १४ इन नौ गुणस्थानों को मोक्ष जाने से पहले जीव एक या अनेक भवों में अवश्य फरसता है।[1]

इस प्रकार गुणस्थानो का स्वरूप कहा गया। विशेष विस्तार से समझने के लिए अन्य ग्रन्थों का अभ्यास करना चाहिए। अब आगे की गाथाओ मे प्रत्येक गुणस्थान मे कर्मप्रकृतियों के बंध, उदय, उदीरणा, सत्ता की स्थिति का वर्णन किया जायेगा।

मगलाचरण मे किये गये सकेतानुसार सर्वप्रथम बन्ध का लक्षण और प्रत्येक गुणस्थान मे बन्धयोग्य कर्मप्रकृतियो का वर्णन करते है।

अभिनवकम्मग्गहणं, बंधो ओहेण तत्थ वीस-सयं।
तित्थयराहारग-दुगवज्जं मिच्छंमि सतर-सयं ॥३॥

गाथार्थ—नवीन कर्मो के ग्रहण को बन्ध कहते है। सामान्यतः अर्थात् किसी खास गुणस्थान अथवा किसी जीवविशेष की विवक्षा किये बिना १२० कर्मप्रकृतियाँ बन्धयोग्य है। उनमे से तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारकद्विक के सिवाय शेष ११७ कर्मप्रकृतियों का मिथ्यात्व गुणस्थान में बन्ध होता है।

विशेषार्थ—अभिनव—नवीन कर्मो के ग्रहण को बन्ध कहते हैं।

---

१. प्रवचन० द्वार-२२४, गा० १३०२। प्रवचन० द्वार ८९-९०, गाथा ६९४-७०८ तथा चौदह गुणस्थान का थोकड़ा।

जिस आकाश क्षेत्र में आत्मा के प्रदेश है, उसी क्षेत्र में रहने वाले कर्म-रूप से परिणत होने की योग्यता रखने वाले पुद्गल स्कन्धों की वर्गणाओं को कर्मरूप से परिणत कर जीव द्वारा उनका ग्रहण होना अभिनव—नवीन कर्मग्रहण कहते है और इस नवीन कर्मग्रहण का नाम बन्ध है।

किन्तु बन्ध हो जाने के बाद के सम्बन्ध को बन्ध नही कहा जाता है। क्योंकि उसका सत्ता[1] में समावेश हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा के साथ बँधे हुए कर्म जब परिणाम-विशेष से एक स्वभाव का परित्याग कर दूसरे स्वभाव को प्राप्त कर लेते है, तब उस स्वभावान्तर प्राप्ति को संक्रमण समझना चाहिए, बन्ध नही। इसी अभिप्राय से कर्मग्रहण मात्र को बन्ध न कहकर गाथा में अभिनव कर्मग्रहण को बन्ध का लक्षण बताया गया है। अर्थात् बन्ध के लक्षण में दिये गये अभिनव विशेषण का यह आशय है कि नवीन कर्मो के बँधने को बन्ध कहते है। किंतु सत्ता रूप में पहले से विद्यमान और स्वभावान्तर मे संक्रमित कर्मो को बन्ध नही कहते है।

जीव के ज्ञान-दर्शनादि स्वाभाविक गुणों को आवरण करने की शक्ति का हो जाना यही कर्मपुद्गलों का कर्मरूप बनना कहलाता है। कर्मयोग्य पुद्गलों का कर्मरूप से परिणमन मिथ्यात्वादि हेतुओं से होता है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये जीव के वैभाविक (विकृत) स्वरूप है, और इससे वे कर्मपुद्गलों के कर्मरूप बनने मे निमित्त होते है।

मिथ्यात्वादि जिन वैभाविक स्वरूपो से कर्मपुद्गल कर्मरूप हो जाते हैं, उन वैभाविक स्वरूपों को भावकर्म और कर्मरूप परिणाम को प्राप्त हुए पुद्गलों को द्रव्यकर्म कहते है। इन दोनो में परस्पराश्रय सम्बन्ध

१. सत्ता कम्माणठिई बंधाइ लद्ध अत्तलाभाणं।

है। पहले ग्रहण किए हुए द्रव्य कर्मों के अनुसार भावकर्म और भावकर्म के अनुसार फिर नवीन कर्मों का वन्ध होता रहता है। इस प्रकार द्रव्यकर्म से भावकर्म और भावकर्म से द्रव्यकर्म का वन्ध, ऐसी कार्य-कारण भाव की अनादि परम्परा चली आ रही है।

किसी खास गुणस्थान और किसी खास जीव की विवक्षा किये बिना बधयोग्य कर्म प्रकृतियाँ १२० मानी जाती है। इसीलिए १२० कर्मप्रकृतियों के बन्ध को सामान्य वन्ध या ओघ वन्ध कहते है।

यद्यपि कोई एक जीव किसी भी अवस्था में एक समय मे कर्मपुद्गलों को १२० रूप में परिणमित नही कर सकता है। अर्थात् १२० कर्मप्रकृतियों को नही बाध सकता है। परन्तु अनेक जीव एक समय में १२० कर्म प्रकृतियों को बाध सकते है। इसी तरह एक जीव भी जुदी-जुदी अवस्थाओं में पृथक्-पृथक् समय सब मिलाकर १२० कर्मप्रकृतियों को बाँध सकता है। क्योकि जीव के मिथ्यात्वादि परिणामों के अनुसार कर्मपुद्गल १२० प्रकार मे परिणत हो सकते है। इसीसे १२० कर्मप्रकृतियाँ बन्धयोग्य मानी जाती है।

बधयोग्य १२० कर्मप्रकृतियों के मूल कर्मो के नाम और उनकी उत्तरप्रकृतियों की सख्या इस प्रकार है—

(१) ज्ञानावरण के ५ भेद
(२) दर्शनावरण के ९ भेद
(३) वेदनीय के २ भेद
(४) मोहनीय के २६ भेद
(५) आयु के ४ भेद
(६) नाम के ६७ भेद
(७) गोत्र के २ भेद
(८) अन्तराय के ५ भेद

इन सब ज्ञानावरणादि कर्मों-के क्रमश. ५+९+२+२६+४ +६७+२+५ भेदों के मिलने से १२० कर्मप्रकृतियाँ बन्धयोग्य मानी गई है।[1]

यद्यपि नाम कर्म की विस्तार से ९३ या १०३ प्रकृतियाँ होती है। लेकिन यहाँ वन्धयोग्य प्रकृतियों मे ६७ प्रकृतियाँ बताने का कारण यह है कि शरीर नामकर्म में वन्धन और सघातन ये दोनों अविनाभावी है। अर्थात् शरीर के बिना ये दोनों हो नही सकते है। अतः वन्ध या उदयावस्था में बन्धन और सघातन नामकर्म शरीर नामकर्म से जुदे नही गिने जाते और शरीर नाम प्रकृति में समाविष्ट हो जाने

---

१. पंच णव दोण्णि छव्वीसमवि य चउरो कमेण सत्तट्ठी।
दोण्णि य पंच य भणिया एदाओ बंधपयडीओ ॥
—गो० कर्मकाण्ड ३५

अभेदविवक्षा से उक्त १२० कर्मप्रकृतियाँ वन्धयोग्य है। लेकिन भेदविवक्षा (भेद से कहने की इच्छा) से १४६ कर्मप्रकृतियाँ वन्धयोग्य होगी। क्योकि दर्शनमोह की सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व और मिथ्यात्व—इन तीन भेदो मे से मूल मिथ्यात्व प्रकृति ही वंधयोग्य मानी जाती है। इसका कारण यह है कि बँधी हुई मिथ्यात्व प्रकृति को ही जीव अपने परिणामों द्वारा अशुद्ध, अर्धशुद्ध और विशुद्ध—इन तीन भागो मे विभाजित करता है। जिससे मिथ्यात्व के ही तीन भेद हो जाते है। उनमे से विशुद्ध कर्म पुद्गलो को सम्यक्त्वमोहनीय और अर्धशुद्ध कर्म पुद्गलो को सम्यग्मिथ्यात्व मोहनीय कहते है। इसलिए मोहनीय कर्म के सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन दो प्रकृतियो को वन्धयोग्य प्रकृतियो मे ग्रहण न करने से १४६ प्रकृतिया भेद विवक्षा से वन्धयोग्य मानी जाती है।

प्रथम कर्मग्रन्थ मे सामान्य से वन्ध, उदय आदि योग्य आठो कर्मो की प्रकृतियो के नाम बताये है। अत. यहां पुन. नाम नही दिये गये है।

से तथा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श इन चार भेदो मे ही अभेद विवक्षा से इनके बीस भेद शामिल होने से बध और उदय अवस्था मे चार भेद लिये जाने पर नाम कर्म के ६७ भेद बधयोग्य प्रकृतियो की सख्या में गिनाये गये है ।[1]

सामान्य से बधयोग्य पूर्वोक्त १२० कर्म प्रकृतियो मे से तीर्थकर नाम कर्म और आहारकद्विक—आहारक शरीर और आहारक अंगोपाग—इन तीन कर्म प्रकृतियों का मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती जीवों के बध नही होता है। अर्थात् ये तीन कर्म प्रकृतियाँ मिथ्यात्व गुणस्थान मे अबन्ध योग्य[2] है। इसका कारण यह है कि तीर्थङ्कर नामकर्म का बंध सम्यक्त्व से और आहारकद्विक का बध अप्रमत्त सयम से होता है।[3] परन्तु मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे जीवो को न तो सम्यक्त्व का ही होना सभव है और न अप्रमत्त सयम का होना सभव है। क्योकि चौथे गुणस्थान—अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान—से पहले सम्यक्त्व हो ही नही सकता और सातवें गुणस्थान—अप्रमत्त सयत गुणस्थान—से पहले अप्रमत्त सयम भी नही होता है। अतः उक्त तीन प्रकृतियो के बिना शेष ११७ कर्मप्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, बध के कारणों के विद्यमान रहने से मिथ्यात्व गुणस्थान-

---

१. देहे अविणाभावी बधणसघाद इदि अबधुदया।
वण्णचउक्केऽभिण्णे गहिदे चत्तारि बंधुदये ॥

—गो० कर्मकाण्ड ३४

२. अबन्ध—उस गुणस्थान मे वह कर्म न बधे, किन्तु आगे के गुणस्थान मे उस कर्म का बन्ध हो, उसे अबन्ध कहते है।

३. सम्मेव तित्थबधो आहारदुग पमादरहिदेसु।

—गो० कर्मकाण्ड ९२

वर्ती जीव यथासम्भव कर सकते हैं। अर्थात् मिथ्यात्व गुणस्थान में वधयोग प्रकृतियाँ ११७ और अबंध योग्य ३ प्रकृतियाँ है।

अव आगे की गाथा में मिथ्यात्व गुणस्थान में बधविच्छेद[1] योग्य कर्म प्रकृतियों की सख्या और नाम एवं दूसरे गुणस्थान में बध प्रकृतियों की सख्या वतलाते है।

नरयतिग जाइथावरचउ, हुंडायवछिवट्ठनपुमिच्छं।
सोलंतो इगहियसउ, सासणि तिरिथीणदुहगतिगं ॥४॥

गाथार्थ—नरकत्रिक, जातिचतुष्क, स्थावरचतुष्क, हुड-सस्थान, आतपनाम, सेवार्त संहनन, नपुसक वेद और मिथ्यात्व मोहनीय इन सोलह प्रकृतियों का मिथ्यात्व गुणस्थान के अंत में वंधविच्छेद होने से सासादन गुणस्थान मे १०१ कर्मप्रकृतिया वंधयोग्य है। उक्त १०१ प्रकृतियों में से तिर्यचत्रिक, स्त्यानर्द्धित्रिक और दुर्भगत्रिक और इसके सिवाय अन्य १६ प्रकृतियों का वधविच्छेद सासादन गुणस्थान के अत में होता है। जिनके नाम आगे की गाथा मे गिनाये जाएँगे।

विशेषार्थ—इस गाथा मे मुख्य रूप से दूसरे—सासादन गुणस्थान मे वधयोग्य प्रकृतियों की सख्या और पहले मिथ्यात्वगुणस्थान के अन्त मे वन्धविच्छेद को प्राप्त होने वाली सोलह प्रकृतियों के नाम वताये गये है। इन सोलह प्रकृतियों मे से कुछ एक प्रकृतियों के पूरे नाम

---

१ बन्धविच्छेद—आगे के किसी भी गुणस्थान में वन्ध नहीं होने को [illegible] है। छेद, क्षय, अन्त, भेद आदि समानार्थक शब्द है।

नहीं लिखकर नरकत्रिक, जातिचतुष्क आदि संज्ञाओं द्वारा सकेत किया गया है। जिनके द्वारा निम्नलिखित प्रकृतियों को ग्रहण किया गया है—

नरकत्रिक—नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु।

जातिचतुष्क—एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति।

स्थावर चतुष्क—स्थावर नाम, सूक्ष्म नाम, अपर्याप्त नाम, साधारणनाम।

उक्त नरकत्रिक आदि सज्ञाओं द्वारा बताई गई प्रकृतियों के साथ पहले मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के अन्त मे बंधविच्छेद होने वाली सोलह प्रकृतियों के नाम ये हैं—

(१) नरकगति, (२) नरकानुपूर्वी,
(३) नरकायु, (४) एकेन्द्रिय जाति,
(५) द्वीन्द्रिय जाति, (६) त्रीन्द्रिय जाति,
(७) चतुरिन्द्रिय जाति, (८) स्थावर नाम,
(९) सूक्ष्म नाम, (१०) अपर्याप्त नाम,
(११) साधारण नाम, (१२) हुंड संस्थान,
(१३) आतप नाम, (१४) सेवार्त सहनन,
(१५) नपुसक वेद, (१६) मिथ्यात्व मोहनीय।[1]

गुणस्थानो में कर्मबध के कारणों के बारे में यह समझ लेना चाहिए कि कर्मबध के जो मिथ्यात्वादि कारण बताये गए है, उनमे से

---

१. तुलना कीजिए—

मिच्छत्त हुडसढाऽसंपत्तेयक्खथावरादाव।
सुहुमतियं वियलिंदिय णिरयदुणिरयाउगं मिच्छे॥

—गो॰ कर्मकाण्ड ९५

जिस-जिस गुणस्थान तक जिनका उदय रहता है तो उनके निमित्त से बँधने वाली कर्मप्रकृतियों का बध भी उस गुणस्थान तक होता रहता है ।

मिथ्यात्व गुणस्थान में बंधयोग्य ११७ कर्म प्रकृतियाँ है । मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उदय पहले—मिथ्यात्व गुणस्थान के अन्तिम समय तक रहता है, दूसरे गुणस्थान में नही । अतएव मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से अत्यन्त अशुभ रूप और प्रायः नारक जीवों, एकेन्द्रिय जीवों तथा विकलेन्द्रिय जीवों के योग्य नरकत्रिक से लेकर मिथ्यात्व मोहनीय पर्यन्त गाथा में दिखाई गई सोलह प्रकृतियों का बध पहले गुणस्थान के अन्तिम समय तक, जब तक मिथ्यात्व मोहनीय का उदय है, हो सकता है, दूसरे गुणस्थान के समय नही । इसलिए पहले गुण-स्थान मे जिन ११७ कर्म प्रकृतियों का. वंध माना गया है, उनमे से नरकत्रिक आदि उक्त सोलह प्रकृतियों को छोड़कर शेष १०१ कर्म प्रकृतियों का वध दूसरे गुणस्थान में होता है ।

सारांश यह है कि पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में वन्धयोग्य ११७ प्रकृतियों मे से वन्धव्युच्छिन्न नरकगति आदि मिथ्यात्व मोहनीय पर्यन्त सोलह प्रकृतियों को कम करने से दूसरे सासादन गुणस्थान में १०१ प्रकृतियां वधयोग्य है ।

गाथा मे 'तिरिथीणदुहगतिग' पद में गिनाई गई प्रकृतियो का वंध-विच्छेद दूसरे गुणस्थान मे होता है । इनके अतिरिक्त दूसरे गुणस्थान मे अन्य वंधव्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों के नाम एवं तीसरे गुणस्थान की वंधयोग्य प्रकृतियों की संख्या आगे की गाथा में वताते है ।

अणमज्झागिइसंघयणचउ, निउज्जोयकुखगइत्थि त्ति।
पणवीसंतो मीसे चउसयरि दुआउयअवन्धा ॥५॥

गाथार्थ—अनन्तानुवन्धी चतुष्क, मध्यम सम्थान चतुष्क, मध्यम सहनन चतुष्क, नीचगोत्र, उद्योत नाम, अशुभ विहायोगति नाम और स्त्रीवेद इन २५ प्रकृतियों का वध-विच्छेद दूसरे गुणस्थान के अन्त में होता है तथा आयुद्विक अबंध होने से मिश्र गुणस्थान (सम्यग्‌मिथ्यादृष्टि गुणस्थान) में ७४ कर्मप्रकृतियो का वध होता है।

विशेषार्थ—दूसरे गुणस्थान में वधयोग्य १०१ प्रकृतियाँ तथा उसके अन्त समय मे व्युच्छिन्न होने वाली २५ प्रकृतियाँ है। इन व्युच्छिन्न होने वाली २५ प्रकृतियों के नामों के लिए पूर्व गाथा मे 'तिरिथीण दुहगतिग' पद से तिर्यचत्रिक, स्त्यानर्द्धित्रिक और दुर्भगत्रिक इन नौ प्रकृतियों के नाम तथा इस गाथा मे अनंतानुबंधी चतुष्क से लेकर स्त्रीवेद पर्यन्त सोलह प्रकृतियों के नाम वताये है।

इस प्रकार पूर्व गाथा में वताई गई नौ और इस गाथा मे कही गई सोलह प्रकृतियों के नामो को मिलाने से दूसरे गुणस्थान के अंत समय मे व्युच्छिन्न होने वाली कुल २५ प्रकृतियाँ हो जाती हैं।

ग्रथकार ने २५ प्रकृतियों में से नीचगोत्र, उद्योत नाम, अप्रशस्त विहायोगति नाम और स्त्रीवेद, इन चार का तो अलग-अलग नामोल्लेख कर दिया है और बाकी बची हुई २१ प्रकृतियो के नाम निम्नलिखित सज्ञाओ द्वारा बताये है—नरकत्रिक, स्त्यानर्द्धित्रिक, दुर्भगत्रिक, अनंतानुबंधी चतुष्क, मध्यम संस्थान चतुष्क, मध्यम संहनन चतुष्क।

उक्त सज्ञाओं में ग्रहण की जाने वाली प्रकृतियों के नाम इस प्रकार है—

तिर्यंचत्रिक—तिर्यंचगति, तिर्यंच-आनुपूर्वी, तिर्यंच-आयु ।

स्त्यानर्द्धित्रिक—निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि ।

दुर्भगत्रिक—दुर्भग नाम, दु:स्वर नाम, अनादेय नाम ।

अनंतानुबंधीचतुष्क—अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ ।

मध्यमसंस्थानचतुष्क—न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान, सादि संस्थान, वामन सस्थान, कुब्ज सस्थान ।

मध्यमसहननचतुष्क—ऋषभनाराच सहनन, नाराच संहनन, अर्धनाराच सहनन, कीलिका सहनन ।

पूर्वोक्त तिर्यंचत्रिक से लेकर स्त्रीवेद पर्यंत २५ कर्मप्रकृतियों का विच्छेद दूसरे गुणस्थान के अत मे हो जाता है । अर्थात् आगे तीसरे-चौथे आदि गुणस्थानों में इनका बध नहीं हो सकता है । इसका कारण यह है कि तिर्यंचत्रिक आदि २५ प्रकृतियों का बंध अनतानुबंधी कषाय के उदय से होता है और अनतानुबधी कषाय का उदय सिर्फ पहले और दूसरे गुणस्थान तक ही रहता है, तीसरे आदि आगे के गुणस्थानों में नही । इसलिए दूसरे गुणस्थान की वधयोग्य १०१ प्रकृतियों मे से तिर्यंचत्रिक आदि २५ प्रकृतियों को कम करने से तीसरे गुणस्थान मे ७६ प्रकृतियाँ वधयोग्य मानी जानी चाहिए थी ।

किन्तु तीसरे—मिश्रगुणस्थानवर्ती (सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान-वर्ती) जीव का स्वभाव ऐसा होता है कि उस समय उसका मरण नही होता है और न परभव सम्बन्धी आयु का वन्ध करता है ।[1] क्योंकि मिश्र गुणस्थान और मिश्र काययोग की स्थिति मे आयु कर्म का वन्ध नही हो सकता है । इसलिए आयु कर्म के चार भेदो में से नरकायु का वन्ध पहले गुणस्थान तक और तिर्यंच आयु का वन्ध दूसरे गुणस्थान तक

---

1. सम्मामिच्छादिट्ठी आउयबंधं पि न करेइ त्ति । —इति आगमवचनात्

होने से तथा 'दुआउ अवन्धा' बाकी की मनुष्यायु और देवायु इन दो आयु का तीसरे गुणस्थान मे वन्ध न होने से नरकत्रिक आदि पूर्वोक्त २५ प्रकृतियों तथा मनुष्यायु एवं देवायु, आयु कर्म के इन दो भेदो सहित कुल २७ प्रकृतियों को सासादन गुणस्थान की वन्धयोग्य १०१ प्रकृतियो मे से कम करने पर शेष ७४ कर्म प्रकृतिया तीसरे गुणस्थान मे वन्धयोग्य है।

साराश यह है कि दूसरे गुणस्थान मे वन्धयोग्य जो १०१ प्रकृतियाँ है, उनमे से तिर्यचगति, तिर्यचानुपूर्वी, तिर्यचायु, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि, दुर्भग नाम, दु.स्वर नाम, अनादेय, अनन्तानुवन्धी क्रोध, अनन्तानुवन्धी मान, अनन्तानुवन्धी माया, अनन्तानुवन्धी लोभ. न्यग्रोधपरिमण्डल सस्थान, सादि सस्थान, वामन संस्थान, कुब्ज संस्थान, ऋषभनाराच सहनन, नाराच संहनन, अर्धनाराच सहनन, कीलिका सहनन, नीचगोत्र, उद्योत नाम, अशुभ विहायोगति नाम और स्त्रीवेद ये २५ प्रकृतिया[1] अनन्तानुवन्धी कषाय के उदय से बँधती है और अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय दूसरे गुणस्थान तक ही होता है, आगे के गुणस्थानों मे नही। इसलिए दूसरे गुणस्थान में उक्त २५ प्रकृतियों का बन्धविच्छेद होता है।

अतएव दूसरे गुणस्थान के अन्त मे उक्त २५ प्रकृतियों का विच्छेद होने से तीसरे गुणस्थान में बधयोग्य ७६ प्रकृतियाँ होनी चाहिए, किन्तु मिश्रगुणस्थान में आयुकर्म के बन्ध न होने का सिद्धान्त होने से देवायु और मनुष्यायु इन दो को भी ७६ प्रकृतियों मे से घटा देने पर शेष ७४ कर्म प्रकृतियां तीसरे गुणस्थान मे बंधयोग्य रहती है।

---

१. तुलना कीजिए—

विदियगुणे अणथीणतिदुभगतिसंठाण सहदि चउक्क।
दुग्गमणित्थीणीच　　　तिरियदुगुज्जोवतिरियाऊ॥

—गो० कर्मकाण्ड ९६

अव आगे की गाथा मे क्रमप्राप्त चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि, पाँचवें देशविरत और छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान में वन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या और इनके नाम वतलाते है ।

सम्मे सगसयरि जिणाउबंधि, वइर नरतिग बियकसाया ।
उरलदुगंतो देसे, सत्तट्ठी तिअ कसायंतो ॥६॥

गाथार्थ—अविरत सम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थान में जिन—तीर्थङ्कर नामकर्म और दो आयु का बन्ध होने से ७७ प्रकृतियों का वन्ध हो सकता है। वज्रऋषभनाराच संहनन, मनुष्यत्रिक, अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क और औदारिक द्विक के वन्धविच्छेद होने से देशविरत नामक पाँचवे गुणस्थान मे सड़सठ प्रकृतियों का बन्ध होता है और तीसरी कषाय—प्रत्याख्यानावरणकपाय चतुष्क का विच्छेद पॉचवे गुणस्थान के अन्त मे होने से तिरेसठ प्रकृतियाँ छठे प्रमत्त-संयत गुणस्थान में वन्धयोग्य है। (छठे गुणस्थान का नाम और वन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या बताने के लिए आगे की गाथा से 'तेवट्ठिपमत्ते' पद लेना चाहिए।)

विशेषार्थ—गाथा मे चौथे, पॉचवे और छठे गुणस्थान की वन्धयोग्य प्रकृतियों की सख्या और उन-उन गुणस्थानों में वन्धविच्छेद होने वाली प्रकृतियों के नामों का संकेत किया गया है।

सर्वप्रथम चौथे गुणस्थान में वन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या आदि वतलाते है।

तीसरे गुणस्थान में वन्धयोग्य ७४ प्रकृतियाँ है, और इस गुणस्थान मे किसी भी प्रकृति का वन्धविच्छेद नही होता है। अतः चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ७४ प्रकृतियाँ वन्धयोग्य होनी

चाहिए। लेकिन 'सम्मेव तित्थबंधो' सम्यग्दृष्टि के ही तीर्थङ्कर प्रकृ
का बंध होता है, का सिद्धान्त होने से चौथे गुणस्थान में तीर्थङ्कर नाम
बांधा जा सकता है तथा इसी प्रकार 'सम्मामिच्छादिट्ठी आउ
बंध पि न करेइ त्ति' के सिद्धांतानुसार तीसरे गुणस्थान में जो मनुष्या
और देवायु[1] का भी बन्ध नहीं होता था, उन दोनों आयु का चौ
गुणस्थान में बन्ध हो सकता है।

इस प्रकार तीर्थङ्कर नामकर्म एवं मनुष्यायु, देवायु इन ती
प्रकृतियों के साथ चौथे गुणस्थान में उन ७४ कर्म प्रकृतियों का
बन्ध हो सकता है, जिनका बन्ध तीसरे गुणस्थान में होता है। अत
सब मिलाकर ७७ कर्म प्रकृतियों का बन्ध चौथे गुणस्थान में म
जाता है।

चौथे गुणस्थान में वर्तमान देव और नारक यदि परभव सम्ब
आयु का बंध करें तो मनुष्यायु और तिर्यंचायु को बांधते हैं
मनुष्य तथा तिर्यंच देवायु को बांधते हैं।

अब पांचवें देशविरत गुणस्थान में बन्धयोग्य प्रकृतियों की सं
उनके नाम और कारण आदि को समझाते हैं।

पांचवें गुणस्थान में ६७ प्रकृतियों का बन्ध होता है। चौथे गुण-
स्थान में जो बन्धयोग्य ७७ प्रकृतियां हैं, उनमें से [illegible]
[illegible]

---

[1] [illegible]

प्रकृतियो का वन्धविच्छेद चौथे गुणस्थान[1] के अन्त मे होने से पाचवे गुणस्थान मे ६७ प्रकृतियों का वन्ध होता है।

पाचवे आदि गुणस्थानों मे मनुष्यभवयोग्य कर्म प्रकृतियों का वन्ध न होकर देवभवयोग्य कर्म प्रकृतियों का ही वध होता है। इसलिए मनुष्यगति, मनुष्य-आनुपूर्वी और मनुष्यायु ये तीन कर्म प्रकृतियां केवल मनुष्य जन्म में ही भोगी जा सकती है। इसी प्रकार वज्र-ऋषभनाराच संहनन, औदारिक शरीर और औदारिक अंगोपांग ये तीन कर्मप्रकृतिया भी मनुष्य या तिर्यच के जन्म मे ही भोगने योग्य होने से उनका पाचवे आदि गुणस्थानों मे वंध नही होता है।

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चार कषायों का वंध चौथे गुणस्थान के अन्तिम समय तक होता है, आगे के गुण-स्थानों मे नही होता है। क्योंकि कषाय के वध के लिए यह सामान्य नियम है कि जितने गुणस्थानों मे जिस कषाय का उदय हो सकता है, उतने गुणस्थानो तक उस कषाय का वन्ध होता है।

पाचवे देशविरत गुणस्थानवर्ती जीव देशसयम का पालन करने वाला होता है। अर्थात् देशविरत उसे कहते है जो एकदेश सयम का पालने वाला होता है। देशसयम को रोकने वाली अप्रत्याख्यानावरण कषाय है। अत जब तक अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहेगा, तब तक देशसयम ग्रहण नही हो सकने से जीव को पाचवां गुण-स्थान प्राप्त नही हो सकता है। इसलिए अप्रत्याख्यानावरण कषाय का वन्धविच्छेद चौथे गुणस्थान के अन्त में हो जाता है।

1. तुलना करो —
अयदे बिदियकसाया वज्जं ओरालमणुदुमणुवाऊ।
—गो० कर्मकाण्ड ९८

चाहिए। लेकिन 'सम्मेव तित्थबंधो' सम्यग्दृष्टि के ही तीर्थङ्कर प्रकृति का बंध होता है, का सिद्धान्त होने से चौथे गुणस्थान में तीर्थङ्कर नाम बाधा जा सकता है तथा इसी प्रकार 'सम्मामिच्छादिट्ठी आउय बध पि न करेइ त्ति' के सिद्धांतानुसार तीसरे गुणस्थान मे जो मनुष्यायु और देवायु[1] का भी बन्ध नही होता था, उन दोनों आयु का चौथे गुणस्थान में बन्ध हो सकता है।

इस प्रकार तीर्थङ्कर नामकर्म एव मनुष्यायु, देवायु इन तीन प्रकृतियों के साथ चौथे गुणस्थान मे उन ७४ कर्म प्रकृतियों का भी बन्ध हो सकता है, जिनका बन्ध तीसरे गुणस्थान मे होता है। अतएव सब मिलाकर ७७ कर्म प्रकृतियों का वन्ध चौथे गुणस्थान में माना जाता है।

चौथे गुणस्थान मे वर्तमान देव और नारक यदि परभव सम्बन्धी आयु का बंध करे तो मनुष्यायु और तिर्यंचायु को बांधते है और मनुष्य तथा तिर्यंच देवायु को बाधते है।

अब पांचवे देशविरत गुणस्थान मे वन्धयोग्य प्रकृतियो की सख्या, उनके नाम और कारण आदि को समझाते है।

पाचवे गुणस्थान मे ६७ प्रकृतियो का वन्ध होता है। चौथे गुण-स्थान मे जो बन्धयोग्य ७७ प्रकृतिया है, उनमे से वज्रऋषभनाराच सहनन, मनुष्यत्रिक—मनुष्यगति, मनुष्य-आनुपूर्वी और मनुष्यायु, अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, अप्रत्याख्यानावरण मान, अप्रत्याख्यानावरण माया, अप्रत्याख्यानावरण लोभ और औदारिकद्विक—औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, इन १०

१. नरकायु और तिर्यंचायु का बधविच्छेद पहले और दूसरे गुणस्थान मे हो जाने से मनुष्यायु और देवायु ये दो प्रकृतिया बंधयोग्य रहती है।

प्रकृतियों का वन्धविच्छेद चौथे गुणस्थान[1] के अन्त में होने से पांचवे गुणस्थान मे ६७ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

पाचवे आदि गुणस्थानों मे मनुष्यभवयोग्य कर्म प्रकृतियो का वन्ध न होकर देवभवयोग्य कर्म प्रकृतियों का ही बध होता है। इसलिए मनुष्यगति, मनुष्य-आनुपूर्वी और मनुष्यायु ये तीन कर्म प्रकृतियां केवल मनुष्य जन्म मे ही भोगी जा सकती है। इसी प्रकार वज्र-ऋपभनाराच संहनन, औदारिक शरीर और औदारिक अंगोपांग ये तीन कर्मप्रकृतिया भी मनुष्य या तिर्यच के जन्म मे ही भोगने योग्य होने से उनका पाचवे आदि गुणस्थानों में बंध नही होता है।

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चार कपायों का वंध चौथे गुणस्थान के अन्तिम समय तक होता है, आगे के गुणस्थानों मे नही होता है। क्योंकि कषाय के बध के लिए यह सामान्य नियम है कि जितने गुणस्थानों मे जिस कषाय का उदय हो सकता है, उतने गुणस्थानो तक उस कषाय का वन्ध होता है।

पाचवे देशविरत गुणस्थानवर्ती जीव देशसंयम का पालन करने वाला होता है। अर्थात् देशविरत उसे कहते है जो एकदेश सयम का पालने वाला होता है। देशसयम को रोकने वाली अप्रत्याख्यानावरण कपाय है। अत जव तक अप्रत्याख्यानावरण कपाय का उदय रहेगा, तब तक देशसयम ग्रहण नही हो सकने से जीव को पाचवां गुणस्थान प्राप्त नहीं हो सकता है। इसलिए अप्रत्याख्यानावरण कपाय का वन्धविच्छेद चौथे गुणस्थान के अन्त मे हो जाता है।

---

१. तुलना करो—

अयदे बिदियकसाया वज्जं ओरालमणुदुमणुवाऊ।

—गो० कर्मकाड ९७

इस प्रकार चौथे गुणस्थान की वन्ध योग्य ७७ प्रकृतियों में वज्र-ऋषभनाराच सहनन से लेकर औदारिक अंगोपांग पर्यन्त दस प्रकृतियों का चौथे गुणस्थान के अन्त में विच्छेद हो जाने से शेप ६७ कर्म प्रकृतियो का ही वध पांचवे गुणस्थान में होता है।

पाचवे गुणस्थान में वधयोग्य उक्त ६७ प्रकृतियों मे से प्रत्याख्याना-वरण चतुष्क—प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चार कषायों का उदय पांचवे गुणस्थान तक ही होता है और उसके अन्तिम समय में बन्धविच्छेद[1] हो जाने से प्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि उक्त कषायों को छोड़कर शेप ६३ प्रकृतिया छठे प्रमत्तविरत गुणस्थान मे बधयोग्य मानी जाती है। अर्थात् प्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि चार कषायो का बध पाचवे गुणस्थान के चरम समय तक ही होता है, आगे के गुणस्थानों मे नही होता है। क्योकि छठे आदि गुणस्थानो में उन कषायों का उदय रहे तो छठा गुणस्थान प्राप्त नहीं हो सकता है। इसलिए प्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि उक्त चार कषायों को छोड़कर शेष ६३ प्रकृतियो का वन्ध छठे गुणस्थान में बन्धयोग्य माना जाता है।

सारांश यह है कि तीसरे गुणस्थान मे बध योग्य ७४ प्रकृतियां और इस गुणस्थान में किसी भी कर्म प्रकृति का बन्धविच्छेद नही हो से चौथे गुणस्थान मे भी ७४ प्रकृतियों का बध होना मानना चाहिए किन्तु आयुद्विक--मनुष्यायु और देवायु तथा तीर्थंकर नामकर्म क बंध इस गुणस्थान मे हो सकने से ७७ प्रकृतियां चौथे गुणस्थान में ब योग्य मानी जाती है।

---

१. तुलना करो—
देसे तदियकसाया णियमेणिह बंधवोच्छिण्णा।

—गो० कर्मकांड-

पाचवे आदि आगे के गुणस्थानो मे देव-भवयोग्य कर्म प्रकृतियों का वन्ध होता है, मनुष्य-भवयोग्य प्रकृतियों का बन्ध नही होता है। इसलिए मनुष्य भवयोग्य मनुष्यगति, मनुष्य-आनुपूर्वी, मनुष्यायु तथा वज्रऋषभनाराच सहनन, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग—इन छह कर्मप्रकृतियों का तथा देश सयम को रोकने वाली अप्रत्याख्याना-वरण क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चार कषायों कुल १० प्रकृतियों का वन्धविच्छेद चौथे गुणस्थान के अन्त में हो जाने से पाँचवे गुणस्थान मे ६७ प्रकृतियो का बन्ध माना जाता है।

उक्त ६७ प्रकृतियो मे भी जो सकल संयम की घातक प्रत्याख्याना-वरण कपाय है, उसका वन्धविच्छेद पॉचवे गुणस्थान के चरम समय मे होने से छठे गुणस्थान की प्राप्ति होती है। प्रत्याख्यानावरण कषाय के रहने पर छठे गुणस्थान की प्राप्ति नही हो सकती। अतः छठे गुणस्थान मे प्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि चार कपायों के बिना शेप ६३ प्रकृतियो का बन्ध होना माना जाता है।

इस प्रकार चौथे, पॉचवे और छठे गुणस्थान में वन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या आदि वतलाने के पश्चात् अव आगे की दो गाथाओ में सातवें अप्रमत्त गुणस्थान मे वन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या, नाम और अन्य प्रकृतियों की विशेषता को समझाते है।

तेवट्ठि पमत्ते सोग अरइ अथिरदुग अजस अस्सायं।
वुच्छिज्ज छच्च सत्त व, नेइ सुराउं जया निट्ठं ॥ ७ ॥

गुणसट्ठि अप्पमत्तो सुराउबंधं तु जइ इहागच्छे।
अन्नह अट्ठावण्णा जं आहारगदुगं वन्धे ॥ ८ ॥

गाथार्थ—(शेष ६३ प्रकृतियों का बन्ध प्रमत्तसयत गुणस्थान मे होता है।) शोक, अरति, अस्थिरद्विक, अयश.कीर्तिनाम और असाता वेदनीय—इन छह प्रकृतियों का बन्धविच्छेद छठे गुणस्थान के अन्तिम समय मे हो जाने से और आहारकद्विक का बन्ध होने से अप्रमत्त सयत गुणस्थान मे ५९ प्रकृतियों का और यदि कोई जीव छठे गुणस्थान मे देवायु के बन्ध का प्रारम्भ कर उसे उसी गुणस्थान में पूरा कर देता है तो उस जीव की अपेक्षा से अरति आदि पूर्वोक्त ६ प्रकृतियों का तथा देवायु कुल सात प्रकृतियों का बन्धविच्छेद कर देने से ५८ प्रकृतियों का बन्ध होना माना जाता है।

विशेषार्थ—सातवे अप्रमत्त संयत गुणस्थान में बन्धयोग्य प्रकृतियो की संख्या बतलाते हैं। छठे गुणस्थान मे बन्धयोग्य ६३ प्रकृतियों मे से शोक, अरति, अस्थिरद्विक—अस्थिरनाम और अशुभ नाम, अयशःकीर्ति नाम और असाता वेदनीय—इन छह प्रकृतियों का बन्धविच्छेद छठे गुणस्थान के अन्तिम समय मे हो जाने से सातवे गुणस्थान मे ५७ प्रकृतियो का बन्ध होना चाहिए, किन्तु इस गुणस्थान मे आहारकद्विक— आहारक शरीर और आहारक अगोपाग—इन दो प्रकृतियों के भी बन्धयोग्य हो जाने से ५९ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य मानी जाती है। लेकिन जो जीव छठे गुणस्थान मे ही देवायु का भी बंधविच्छेद कर सातवे गुणस्थान को प्राप्त करते है, उनकी अपेक्षा ५८ प्रकृतियां सातवे गुणस्थान मे बन्धयोग्य मानी जाती है।

उक्त विभिन्नता के कारण को निम्नप्रकार से स्पष्ट करते है।

सातवें गुणस्थान को प्राप्त करने वाले जीव दो प्रकार के होते है—

(१) जो छठे गुणस्थान में देवायु के बंध को प्रारम्भ करके उसे उसी गुणस्थान मे समाप्त किये बिना ही सातवे गुणस्थान को प्राप्त करते है और सातवे गुणस्थान मे देवायु के बंध को समाप्त करते है।

(२) जो देवायु के बध का प्रारम्भ तथा उसका विच्छेद इन दोनों को छठे गुणस्थान मे ही करके अनन्तर सातवे गुणस्थान को प्राप्त करते है।

उक्त दोनों प्रकार के जीवों में से पहले प्रकार के जीव तो छठे गुणस्थान के अंतिम समय मे शोक, अरति, अस्थिर नाम, अशुभनाम, अयशःकीर्ति और असातावेदनीय—इन छह प्रकृतियों का विच्छेद करके सातवे गुणस्थान को प्राप्त करते है। अतः इन जीवों की अपेक्षा छठे गुणस्थान की बधयोग्य ६३ प्रकृतियों में से उक्त अरति, शोक आदि छह प्रकृतियों को कम करने से ५७ प्रकृतियाँ सातवे गुणस्थान में बधयोग्य होनी चाहिए थीं। लेकिन आहारक शरीर और आहारक अंगोपाग—इन दो प्रकृतियों का उदय सातवे गुणस्थान में ही होने से इन दोनों का वध भी सातवे गुणस्थान मे होता है। अतः इन दो प्रकृतियो के साथ ५७ प्रकृतियों को जोड़ने से सातवे गुणस्थान में ५९ प्रकृतियो का वध माना जाता है।

लेकिन छठे गुणस्थान मे ही देवायु का बधविच्छेद करके सातवें गुणस्थान को प्राप्त करने वाले दूसरे प्रकार के जीवों की अपेक्षा अरति, शोक आदि छह प्रकृतियों एवं देवायु, कुल ७ प्रकृतियों का बंध-विच्छेद छठे गुणस्थान के अन्तिम समय में होने से ६३ प्रकृतियों में से शेष रही ५६ प्रकृतियों के साथ आहारकद्विक को मिलाने से सातवें गुणस्थान मे ५८ प्रकृतियों का वंध माना जाता है।

उक्त दोनो कथनों का सारांश यह है कि छठे गुणस्थान मे देवायु के बंध को प्रारम्भ कर उसे उसी गुणस्थान में समाप्त किये विना ही

सातवे गुणस्थान को प्राप्त करने वाले जीवों की अपेक्षा ५९ प्रकृतियाँ और देवायु के बंध का प्रारम्भ और उसका विच्छेद इन दोनों को छठे गुणस्थान मे करके सातवें गुणस्थान को प्राप्त करने वाले जीवों की अपेक्षा ५८ प्रकृतियाँ सातवे गुणस्थान मे बधयोग्य मानी जाती है।

सातवे गुणस्थान मे देवायु के बध की गणना का आशय यह है कि देवायु को प्रमत्त ही बाँधता है, किन्तु अति विशुद्ध और स्थि परिणाम वाला होने से अप्रमत्त जीव नही बाँधता है। इसलिए जि जीव ने छठे गुणस्थान में देवायु का बध किया और उसी मे उसक विच्छेद न करके अपने विशुद्ध परिणामों के कारण सातवे गुणस्था में आ गया और इस गुणस्थान मे देवायु का विच्छेद किया तो इ अपेक्षा से सातवे गुणस्थान में देवायु का बध कहा जाता है और ब योग्य ५९ प्रकृतियाँ मानी जाती है। लेकिन सातवे गुणस्थान में देव के बध का प्रारम्भ होना नही माना जाता है।

सातवे गुणस्थान मे बंधयोग्य प्रकृतियों का कथन करने के बाद आठवे अपूर्वकारण, नौवे अनिवृत्तिकरण और दसवे सूक्ष्मसपराय गुणस्थानों मे बंधयोग्य प्रकृतियों की सख्या और उनके नाम तीन गाथाओं द्वारा बतलाते है।

अडवन्न अपुव्वाइम्मि निद्दुगंतो छपन्न पणभागे।
सुरदुग पणिंदि सुखगइ तसनव उरलविणु तणुवंगा ॥९॥

समचउर निमिण जिण वण्णअगुरुलहुचउ छलंसि तीसंतो।
चरमे छवीसबंधो हासरईकुच्छभयभेओ ॥१०॥

अनियट्टि भागपणगे, इगेगहीणो दुवीसविहबन्धो।
पुमसंजलणचउण्हं, कमेण छेओ सतर सुहुमे ॥११॥

गाथार्थ—अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रारम्भ में अट्ठावन और निद्राद्विक का अन्त करने से पाँच भागो में छप्पन तथा छठे भाग मे सुरद्विक, पचेन्द्रिय जाति, शुभ विहायोगति, त्रसनवक, औदारिक शरीर के सिवाय शेष शरीर और अगोपांग, समचतुरस्र सस्थान, निर्माण, जिन नाम, वर्ण चतुष्क और अगुरुलघु चतुष्क इन तीस प्रकृतियों का अन्त करने से अन्तिम भाग म छब्बीस प्रकृतियों का वन्ध होता है तथा हास्य, रति, जुगुप्सा और भय का अन्त करने अनिवृत्तिगुणस्थान में बाईस प्रकृतियो का बंध होता है। अनन्तर पुरुषवेद और सज्वलन कषाय चतुष्क में से क्रमशः एक के वाद एक कम करने, छेद होने से सूक्ष्म सपराय मे सत्रह प्रकृतियों का बध होता है।

विशेषार्थ—इन तीन गाथाओ मे आठवे अपूर्वकरण, नौवें अनिवृत्तिबादर संपराय और दसवे सूक्ष्मसपराय इन तीन गुणस्थानों की बधयोग्य प्रकृतियों की सख्या और उनके नाम बताये गये है। उनमे से सर्वप्रथम आठवे गुणस्थान की वन्धयोग्य प्रकृतियों की सख्या, नाम, बन्धविच्छेद और उनके कारण आदि को समझाते है।

यह पहले वताया जा चुका है कि सातवे गुणस्थान से लेकर आगे के सब गुणस्थानो में परिणाम इतने स्थिर और शुद्ध हो जाते है कि जिससे उन गुणस्थानो में आयु का वन्ध नही होता है। यद्यपि सातवे गुणस्थान मे ५६ प्रकृतियो के वध का आपेक्षिक पक्ष कहा गया है, उसमे देवायु की भी गणना की गई है। इसके लिए यह समझना चाहिए कि छठे गुणस्थान में प्रारम्भ किये हुए देवायु के वन्ध की सातवे गुणस्थान मे समाप्ति होती है। अतः उसी अपेक्षा से सातवें गुणस्थान की वन्धयोग्य ५६ प्रकृतियो मे देवायु की गणना की गई है। किन्तु सातवे गुणस्थान मे देवायु के वध का प्रारम्भ नहीं होता और

आठवे आदि गुणस्थानों में तो देवायु के बन्ध का प्रारम्भ भी नही होता और समाप्ति भी नही होती है। अतएव देवायु को छोडकर शेष ५८ प्रकृतियाँ आठवें गुणस्थान के प्रथम भाग मे बन्धयोग्य मानी जाती है।

आठवे गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और उस स्थिति के सात भाग होते है। इन भागों में से पहले भाग में तो ५८ प्रकृतियों का बन्ध होता है और पहले भाग के अन्तिम समय में निद्राद्विक—निद्रा और प्रचला—इन दो प्रकृतियों का बन्धविच्छेद हो जाने से आगे दूसरे से लेकर छठे भाग तक पाँच भागों में ५६ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

इन ५६ प्रकृतियों में से छठे भाग के अन्त में निम्नलिखित ३० प्रकृतियों का बंधविच्छेद होता है—

सुरद्विक—देवगति, देव-आनुपूर्वी, पचेन्द्रिय जाति, शुभ विहायोगति, त्रसनवक–त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय—,वैक्रिय शरीर नाम, आहारक शरीर नाम, तैजस शरीर नाम, कार्मण शरीर नाम, वैक्रिय अंगोपाग, आहारक अगोपांग, समचतुरस्र सस्थान, निर्माण नाम, तीर्थङ्कर नाम, वर्णचतुष्क–वर्ण, गंध, रस और स्पर्श नाम—अगुरुलघु चतुष्क— अगुरुलघु नाम, उपघात नाम, पराघात नाम और उच्छ्वास नाम।[1]

---

१. तुलना करो—

मरणूणम्हि णियट्टीपढमे णिद्दा तहेव पयला य।
छट्ठे भागे तित्थं णिमिणं सग्गगमणपंचिंदी ॥
तेजदुहारदुसमचउसुरवण्णागुरुगचउक्कतसणवयं।

—गो

ये नाम कर्म की ३० प्रकृतियाँ आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक ही बाँधी जाती है, आगे नही। अत पूर्वोक्त ५६ प्रकृतियों में से इन ३० प्रकृतियो को घटा देने से शेष २६ प्रकृतियों का ही बंध आठवे गुणस्थान के सातवे भाग मे होता है।

आठवे गुणस्थान के अन्तिम भाग, अर्थात् सातवे भाग मे बधयोग्य शेष रही हुई २६ प्रकृतियो मे से उसके अन्तिम समय मे हास्य, रति, जुगुप्सा और भय[1]—नोकषाय मोहनीय कर्म की इन चार प्रकृतियों का बधविच्छेद हो जाने से नौवें आदि आगे के गुणस्थानों मे बंध नही होता है। अर्थात् आठवे गुणस्थान के प्रथम भाग में ५८ प्रकृतियों का बध होता है और उसके बाद दूसरे से लेकर छठे भाग तक पाँच भागों मे निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों का बंधविच्छेद पहले भाग के अन्त मे हो जाने से ५६ प्रकृतियों का और उनमें से छठे भाग के अतिम समय में ३० प्रकृतियों के व्युच्छिन्न हो जाने से सातवे भाग में २६ प्रकृतियो का बध होता है।

अब नौवे और दसवे गुणस्थान की बधयोग्य प्रकृतियो की संख्या, नाम आदि बतलाते है।

नौवे गुणस्थान की स्थिति अतर्मुहूर्त प्रमाण है और उस स्थिति के पाँच भाग होते है, अतएव आठवे गुणस्थान में अन्तिम समय—सातवे भाग के अंत में हास्य,रति, जुगुप्सा व भय इन चार प्रकृतियों

---

१. तुलना करो—

चरमे हस्स च रदी भय जुगुच्छा य बधवोच्छिण्णा।

—गो० कर्मकाण्ड १००

का विच्छेद हो जाने से नौवे गुणस्थान के प्रथम भाग में २२ प्रकृतियो का बन्ध होता है। इसके बाद पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, सज्वलन मान, संज्वलन माया और सज्वलन लोभ इन पाँच प्रकृतियों मे से एक-एक प्रकृति का बन्धविच्छेद क्रमशः नौवे गुणस्थान के पॉच भागों में से प्रत्येक भाग के अन्तिम समय मे होता है।[1] इनके बधविच्छेद के क्रम को नीचे स्पष्ट करते है।

नौवे गुणस्थान के पहले भाग मे बाँधी गई २२ प्रकृतियों मे से पुरुषवेद का विच्छेद पहले भाग के अन्तिम समय में हो जाने से दूसरे भाग में २१ प्रकृतियों का बन्ध होगा। इन २१ प्रकृतियों मे से सज्वलन क्रोध का विच्छेद दूसरे भाग के अन्तिम समय मे होता है। अतः इससे बाकी रही हुई २० प्रकृतियों का बध तीसरे भाग मे होता है। इन २० प्रकृतियों मे से सज्वलन मान का विच्छेद तीसरे भाग के अन्तिम समय मे हो जाने से चौथे भाग मे १६ प्रकृतियो का बध होगा और चौथे भाग के अन्तिम समय मे सज्वलन माया का विच्छेद हो जाने से पॉचवे भाग मे १८ प्रकृतियो का बध होता है। अर्थात् नौवे गुणस्थान के पॉचवे भाग मे १८ प्रकृतियो का बध होता है।

इस प्रकार इन १८ प्रकृतियों मे से भी सज्वलन लोभ का बध नौवे गुणस्थान के पॉचवे भाग पर्यन्त होता है और इस भाग के अन्तिम समय मे सज्वलन लोभ का बधविच्छेद हो जाने से दसवे गुण-स्थान मे १७ प्रकृतियो का बंध होता हैं।

---

१. तुलना करो—

पुरिसं चदु सजलण कमेण अणियट्टि पचभागेसु।

—गो० कर्मकाण्ड—१०

सारांश यह है कि आठवें गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और उस स्थिति के सात भाग होते हैं। इन भागों मे से प्रथम भाग मे ५८ प्रकृतियो का वंध होता है और प्रथम भाग के अन्तिम समय में निद्राद्विक का विच्छेद हो जाने से दूसरे से लेकर छठे भाग तक पाँच भागों में ५६ प्रकृतियों का और इन ५६ प्रकृतियों में से देवद्विक से लेकर अगुरुलघु चतुष्क पर्यन्त ३० प्रकृतियों का छठे भाग के अन्त में विच्छेद हो जाने से सातवे भाग में २६ प्रकृतियों का बन्ध होता है। अर्थात् आठवे गुणस्थान के प्रथम भाग में ५८ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य होने पर भी परिणामो की स्थिरता और शुद्धता के कारण सातवे भाग में सिर्फ २६ प्रकृतियाँ ही वधयोग्य रहती है।

उक्त २६ प्रकृतियों मे से भी आठवे गुणस्थान से नौवे गुणस्थान को प्राप्त करने वाला जीव आठवे गुणस्थान की समय स्थिति के सातवे भाग के अंतिम समय में हास्य आदि चार प्रकृतियों का बंध-विच्छेद कर देता है। अत. नौवे गुणस्थान के प्रारम्भ में २२ प्रकृतियाँ वधयोग्य रहती है।

लेकिन नौवे गुणस्थान की स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और उस स्थिति के पाँच भाग होते है और उन पाँच भागों मे प्रत्येक के अंत मे क्रमश. पुरुषवेद और सज्वलन कषाय चतुष्क की एक-एक प्रकृति का विच्छेद करने से दसवे गुणस्थान में सिर्फ १७ प्रकृतियाँ वधयोग्य रहती हे।

इस प्रकार आठवे, नौवे और दसवे गुणस्थान में वधयोग्य प्रकृतियों की संख्या और नामों का कथन हो जाने के वाद आगे की गाथा में ग्यारह से लेकर चौदहवे गुणस्थान तक की वधयोग्य प्रकृतियों को बतलाते हैं।

चउदंसणुच्चजसनाणविग्घदसगं ति सोलसुच्छेओ।
तिसु सायबन्ध छेओ सजोगि बन्धं तुणंतो अ ॥१२॥

गाथार्थ—चार दर्शनावरणीय, उच्चगोत्र, यश.कीर्त नाम और ज्ञानावरणीय—अन्तराय दशक (ज्ञानावरणीय की पाँच और अन्तराय की पाँच प्रकृतियाँ) इन सोलह प्रकृतियो का वध, विच्छेद दसवे गुणस्थान के अन्त मे हो जाने से, ग्यारह, बारह और तेरह—इन तीन गुणस्थानों मे सिर्फ सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है और सयोगिकेवली गुणस्थान मे उसका भी छेद होने से चौदहवे गुणस्थान मे उसके भी वध का अन्त हो जाता है।

विशेषार्थ—गाथा मे ग्यारहवे, वारहवे और तेरहवे इन तीन गुणस्थानों में बधयोग्य प्रकृतियों का निर्देश करते हुए चौदहवे गुणस्था की अबंधदशा और उसके कारण को वतलाया है।

यद्यपि दसवे गुणस्थान मे वन्ध के वास्तविक कारण स्थूल लोभ-कषाय का उदय नही रहता है, किन्तु सूक्ष्म-सी लोभ कषाय रहती है, जो बंध का कारण नही है। फिर भी कषाय का अति सूक्ष्म अंश दसवे गुणस्थान मे है, इसलिए बध के कारण कषाय और योग के वहाँ रहने से कषाय निमित्तिक चार दर्शनावरण (चक्षुदर्शनावरण, अचक्षु-दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण), उच्च गोत्र, यश-कीर्ति नाम, पाँच ज्ञानावरण (मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यायज्ञानावरण, केवलज्ञानावरण), पाँच अन्तराय(दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय)—ये १६ प्रकृतियाँ और योगनिमित्तिक सातावेदनीय कुल १७ प्रकृतियों का बध दसवे गुणस्थान में होता है।

किंतु दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में सूक्ष्म कषायांश के नष्ट हो जाने से तन्निमित्तिक चार दर्शनावरण आदि उक्त १६ प्रकृतियों का बंधविच्छेद होने पर[1] ग्यारहवें–उपशांत कषाय वीतराग छद्मस्थ, बारहवें—क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ और तेरहवें—सयोगि केवली इन तीन गुणस्थानों मे सिर्फ योगनिमित्तक सातावेदनीय नामक प्रकृति बंधयोग्य रहती है। अर्थात् ग्यारहवें आदि तीन गुणस्थानों कषायोदय का सर्वथा अभाव ही होता है। अतः कषायोदय से बँधने वाली १६ प्रकृतियों का बंध भी उन गुणस्थानों में नहीं होता है किंतु इनमे योग का सद्भाव है, इसलिए योग के निमित्त से बँधने वाली सातावेदनीय नामक एक प्रकृति ग्यारह, बारह और तेरह—इन तीन गुणस्थानों मे बंधयोग्य रहती है।[2]

इसके अनन्तर चौदहवें—अयोगिकेवलि गुणस्थान मे वन्ध के कारण योग का अभाव हो जाता है। इसलिए उस गुणस्थान मे साता-वेदनीय का भी वन्ध नही होता है और अवन्धक अवस्था प्राप्त होती है।[3] अर्थात् चौदहवें गुणस्थान मे वन्ध के कारण योग का अभाव होने से न तो किसी कर्म का वन्ध ही होता है और न वन्धविच्छेद ही। इसलिए चौदहवें गुणास्थान मे अवन्धकत्व अवस्था प्राप्त होती है।

---

[1] तुलना करो—

पढम विग्घ दसणचउजसउच्च च सुहुमते ।

—गो० कर्मकाण्ड १०१

[2] उवसतखीणमोहे जोगिम्हि य समयियट्ठिदी साद ।

—गो० कर्मकाण्ड १०२

[3] णायव्वो पयडीण वंधस्संतो अणतो य ।

—गो० कर्मकाण्ड १०२

साराश यह है कि ग्यारह, वारह और तेरह इन तीन गुणस्थानो में बन्ध के कारण योग के सद्भाव रहने से सिर्फ साता वेदनीय नामक एक प्रकृति का वन्ध होता है और तेरहवे गुणस्थान के अन्त में योग के भी नही रहने से योग निमित्तक सातावेदनीय प्रकृति का वधविच्छेद हो जाने से चौदहवें गुणस्थान मे न तो किसी कर्म प्रकृति का वंध ही होता है और न बंधविच्छेद ही, किन्तु अवंधकत्व अवस्था प्राप्त हो जाती है।

यह अबन्धकत्व अवस्था प्राप्त करना जीव का लक्ष्य है और उसकी प्राप्ति के बाद जीव अपने स्वरूप मे रमण करता रहता है।

पूर्वोक्त प्रकार से चौदह गुणस्थानों मे से प्रत्येक गुणस्थान मे बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या, नाम और बन्धविच्छेद को वतलाया गया है। कर्मबन्ध के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—ये पाँच कारण है।[1] इन बन्ध के कारणों की सख्या के बारे में निम्नलिखित तीन परम्पराये देखने में आती है—

(१) कषाय और योग—ये दोनों ही बधहेतु है।
(२) मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग—ये चार बन्धहेतु है।
(३) मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—ये पाँचो बधहेतु है।

इस तरह से संख्या और नामो के भेद रहने पर भी तात्त्विक दृष्टि से इन तीनो परपराओ मे कोई भेद नही है। क्योंकि प्रमाद एक प्रकार का असंयम ही तो है। अतः वह अविरति या कषाय के अन्तर्गत ही

---

१. मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकपाय योगा बन्धहेतवः।

—तत्त्वार्थसूत्र ८-१

है और बारीकी से देखने पर मिथ्यात्व और असंयम ये दोनों कषाय के स्वरूप से अलग नही पड़ते अत: कषाय और योग इन दोनों को ही बंधहेतु माना जाता है।

उक्त तीनो परम्पराओं में से जिज्ञासु जनों को सरलता से समझाने के लिए ग्रन्थकार ने मध्यममार्ग का आश्रय लेते हुए मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चारों को बन्ध का कारण मानकर गुणस्थानो में कर्मबन्ध का वर्णन किया है।

अधिकतर कर्मग्रन्थों मे आध्यात्मिक विकास की भूमिका रूप गुणस्थानो मे बँधने वाली कर्म प्रकृतियों के तरतम भाव के कारण को बतलाने के लिए मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार बन्ध हेतुओं का कथन किया जाता है और इनके माध्यम से जीव की विकास स्थिति का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। इसलिए जिस गुणस्थान मे उक्त चार में से जितने अधिक बन्धहेतु होंगे, उस गुणस्थान मे कर्म प्रकृतियों का बन्ध भी उतना ही अधिक होगा और जहाँ पर वे बन्धहेतु कम होगे, वहाँ पर कर्म प्रकृतियों का बन्ध भी कम ही होगा। अर्थात् मिथ्यात्व आदि चार हेतुओं के कथन की परम्परा अलग-अलग गुणस्थानों मे तरतम भाव को प्राप्त होने वाले कर्मबन्ध के कारणों का स्पष्टीकरण करने के लिए कर्मग्रन्थों मे ग्रहण की जाती है।

कर्म प्रकृतियों के बन्ध के विषय में यह एक साधारण-सा नियम है कि जिन कर्म प्रकृतियों का बन्ध जितने कारणो से होता है, उतने कारणों के रहने तक ही उन कर्म प्रकृतियों का बन्ध होता रहता है और उतने कारणो में से किसी एक कारण के कम हो जाने से उन कर्म प्रकृतियो का बन्ध नही होता है। शेष सब कर्म प्रकृतियों का बन्ध होता है।

उक्त कथन का आशय यह है कि सामान्य से १२० कर्म प्रकृतियाँ बन्धयोग्य है और मिथ्यात्वादि बन्ध के चारो कारणो के रहने पर बन्धयोग्य सभी प्रकृतियों का बन्ध होगा और उनमे से यदि पूर्व कारण का अभाव हो जाए तो उसके सहित आगे के कारणो द्वारा बँधने वाली प्रकृतियो मे से उससे बँधने वाली प्रकृतियो का बध न होकर शेष बचे हुए कारणों से ही बँधने वाली कर्म प्रकृतियो का बन्ध होगा। अर्थात् पूर्व-पूर्व कारणों के न रहने पर उत्तर-उत्तर के कारणों से बँधने वाली प्रकृतियों का बन्ध होगा, किन्तु स्वय उसके और उसके पूर्व कारणो से बँधने वाली प्रकृतियो का बध नही होता है।

जैसे कि मिथ्यात्व गुणस्थान के अन्त में व्युच्छिन्न होने वाली नरकत्रिक आदि पूर्वोक्त१६ कर्मप्रकृतियों का बंध मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार कारणों से होता है। ये चारों कारण पहले गुणस्थान के चरम समय पर्यन्त रहते है, अतः उक्त १६ कर्म प्रकृतियो का बध भी उस समय तक हो सकता है। लेकिन पहले गुणस्थान से आगे मिथ्यात्व आदि उक्त कारणों मे से मिथ्यात्व नही रहता है, इसलिए नरकत्रिक आदि पूर्वोक्त सोलह प्रकृतियों का बंध भी पहले गुणस्थान से आगे नही होता है। इसी प्रकार दूसरी-दूसरी कर्म-प्रकृतियों का बध व विच्छेद बध के हेतुओं के सद्भाव और विच्छेद पर निर्भर है।

इन बध के हेतुओं की अपेक्षा गुणस्थानों का वर्गीकरण, बधयोग्य प्रकृतियो की अल्पाधिक सख्या, नाम और कारण आदि के लिए परिशिष्ट देखिये।

इस प्रकार गुणस्थानों मे कर्मप्रकृतियों का कथन करने के अनन्तर आगे की गाथाओं मे कर्मों के उदय, उदीरणा, सत्ता का वर्णन करते है। पहले उदय और उदीरणा का लक्षण कहने के अनन्तर प्रत्येक गुण-स्थान मे कितनी-कितनी कर्म प्रकृतियों का उदय होता है और कितनी-कितनी प्रकृतिया की उदीरणा होती है, इन दोनों को समझाते है।

आगे की गाथा मे उदय और उदीरणा का लक्षण कहकर उदय योग्य प्रकृतियों की संख्या और पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में उदय को प्राप्त होने वाली प्रकृतियों की संख्या और उसके कारणों को स्पष्ट करते है।

उदओ विवागवेयणमुदीरण अपत्ति इह दुवीससयं।
सतरसयं मिच्छे मीस-सम्म-आहार-जिणऽणुदया ॥१३॥

गाथार्थ—विपाक के समय फल को भोगना उदय और विपाक का समय न होते हुए भी फल का भोग करना उदीरणा कहलाता है। सामान्य से उदय और उदीरणा योग्य कर्मप्रकृतिया १२२ है। उनमे से मिश्र मोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय, आहारकद्विक और तीर्थङ्कर नाम—इन पाच प्रकृतियों का उदय न होने से मिथ्यात्व गुणस्थान में ११७ प्रकृतियो का उदय हो सकता है।

विशेषार्थ—आत्मा के साथ वधे हुए कर्मदलिकों का अपने नियत समय शुभाशुभ फलो का अनुभव कराना उदय है एव कर्मदलिकों को प्रयत्न विशेष से खींचकर नियत समय से पहले ही उनके शुभाशुभ फलों को भोगना उदीरणा कहलाती है।

कोई भी कर्म जिस समय वंधता है, उसी समय से उसकी सत्ता प्रारम्भ होती है और जिस कर्म का जितना अबाधाकाल हो, उसके पूरे

होने पर ही उन कर्मों की उदय में आने के लिए कर्मदलों की एक प्रकार की रचना विशेष होती है और कर्म उदयावलि मे स्थित होकर, उदय मे आकर फल देना प्रारम्भ कर देते है।

कर्मों के शुभाशुभ फल को भोगने का ही नाम उदय और उदीरणा है किन्तु दोनों मे इतना भेद है कि उदय में प्रयत्न विना ही स्वाभाविक क्रम से फल का भोग होता है और उदीरणा मे फलोदय के अप्राप्त काल मे प्रयत्न को कर फल का भोग होता है। कर्म-विपाक के वेदन को उदय तथा उदीरणा कहने का अभिप्राय यह है कि यहाँ रसोदय को ग्रहण करना चाहिए, किन्तु प्रदेशोदय को उदयाधिकार में ग्रहण करना इष्ट नही है।

प्रत्येक कर्म में बध के समय उसके कारणभूत कापायिक अध्य-वसाय के तीव्र, मंद भाव के अनुसार तीव्र, मद फल देने की शक्ति उत्पन्न होती है और अवसर आने पर तदनुसार फल देता है। परन्तु इसके विषय मे इतना समझ लेना चाहिए कि प्रत्येक फलप्रद शक्ति स्वय जिस कर्म मे निष्ठ हो, उसी कर्म के स्वभाव अर्थात् प्रकृति के अनुसार ही फल देती है, दूसरे कर्म के स्वभावानुसार नही। जैसे ज्ञानावरण कर्म की फलप्रद शक्ति उस कर्म के स्वभावानुसार ही तीव्र या मंद फल देती है, यानी वह ज्ञान को आवृत करने का ही काम करती है, लेकिन दर्शनावरण, वेदनीय आदि अन्य कर्म के स्वभावानुसार फल नही देती है। इसी प्रकार दर्शनावरण की फलप्रद शक्ति दर्शन गुण को तीव्र या मंद रूप से आवृत्त करती है, लेकिन अन्य कर्मो के कार्यो को नही करती है।

कर्म के स्वभावानुसार फल देने का नियम भी मूल प्रकृतियों मे ही लागू होता है, उत्तर प्रकृतियों में नही। क्योंकि अध्यवसाय के

बल से किसी भी कर्म की एक उत्तरप्रकृति बाद में उसी कर्म की दूसरी उत्तरप्रकृति के रूप में बदल सकती है। जिससे पहले की फलप्रद शक्ति परिवर्तित उत्तरप्रकृति के स्वभावानुसार तीव्र या मंद फल प्रदान करती है। जैसे मतिज्ञानावरण जब श्रुतज्ञानावरण आदि सजातीय उत्तरप्रकृति के रूप मे परिवर्तित होता है, तब मति-ज्ञानावरण की फलप्रद शक्ति श्रुतज्ञानावरण आदि के स्वभावानुसार ही श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान आदि को आवृत करने का कार्य करती है।

लेकिन सभी उत्तरप्रकृतियों के लिए यह नियम लागू नही होता है। उनमें से कितनी ही उत्तरप्रकृतियां ऐसी भी है जो सजातीय होने पर भी परस्पर सक्रमित नही होती है। जैसे दर्शनमोह और चारित्रमोह, इनमे से दर्शनमोह चारित्रमोह के रूप में अथवा चारित्र-मोह दर्शनमोह के रूप मे सक्रमण नही करता है। इसी तरह आयु कर्म की चारों आयुओ मे परस्पर अन्य आयुष्क के रूप में सक्रमण नहीं होता है।

सामान्यतया उदययोग्य १२२ प्रकृतियां है और बंधयोग्य १२० प्रकृतियां मानी जाती है। इस प्रकार उदय और बंधयोग्य प्रकृतियों मे दो का अन्तर है, जो नही होना चाहिए। क्योंकि जितनी प्रकृतियों का बंध होवे उतनी ही प्रकृतियों को उदययोग्य माना जाना चाहिए। उस स्थिति में बिना कर्मबंध के कर्मफल भोगना माना जाएगा, जो सिद्धान्त-विरुद्ध है। इसका स्पष्टीकरण नीचे लिखे अनुसार है—

बंधयोग्य १२० प्रकृतियों की अपेक्षा १२२ प्रकृतियों को उदययोग्य मानने का कारण यह है कि बंध केवल मिथ्यात्व मोहनीय का ही होता है और वह मिथ्यात्व मोहनीय जब परिणामों की विशुद्धता से अर्द्ध विशुद्ध और शुद्ध रूप हो जाता है, तब मिश्र मोहनीय (सम्यक् मिथ्यात्व

मोहनीय) तथा सम्यक्त्व मोहनीय के रूप से उदय में आने से बंधयोग्य १२० मे इन दोनो को मिलाने पर कुल १२२ प्रकृतियाँ उदय और उदीरणा योग्य मानी जाती है ।

उदय और उदीरणा योग्य १२२ कर्म प्रकृतियाँ इस प्रकार है—

ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ६, वेदनीय २, मोहनीय २८, आयु ४, नाम ६७, गोत्र २, और अन्तराय ५ । इस प्रकार ५+६+२+२८+४+६७+२+५=१२२ हो जाती है ।

उदययोग्य १२२ कर्म प्रकृतियों में से मिश्र मोहनीय का उदय तीसरे गुणस्थान में, सम्यक्त्व मोहनीय का उदय चौथे गुणस्थान मे आहारकद्विक (आहारक शरीर, आहारक अगोपांग) का उदय प्रमत्त गुणस्थान में और तीर्थङ्कर नामकर्म का उदय तेरहवे और चौदहवे गुणस्थान में होने से इन पाँच कर्म प्रकृतियो को छोड़कर शेष ११७ कर्म प्रकृतियों का पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में उदय माना जाता है अर्थात् मिश्र मोहनीय से लेकर तीर्थङ्कर नाम पर्यन्त उक्त पाँच प्रकृतियों का पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में अनुदय होने से ११७ प्रकृतियाँ उदययोग्य मानी जाती है ।

इस प्रकार उदय और उदीरणा का लक्षण और सामान्य से उदययोग्य प्रकृतियों की सख्या, उसका कारण तथा पहले गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या और सम्बन्धित कारण को बतलाने के बाद आगे की चार गाथाओं मे दूसरे सासादन गुणस्थान से लेकर सातवे अप्रमत्तविरत गुणस्थान पर्यन्त कुल ६ गुणस्थानों की उदय-योग्य प्रकृतियों की संख्या आदि का कथन करते है ।

सुहुम-तिगायव-मिच्छं मिच्छंतं सासणे इगारसयं ।
निरयाणुपुव्विणुदया अण-थावर-इगविगलअंतो ॥१४॥

मीसे सयमणुपुव्वीणुदया मीसोदएण मीसंतो ।
चउसयमजए सम्माणुपुव्वि-खेवा बिय-कसाया ॥१५॥

मणुतिरिणुपुव्वि विउवट्ठ दुहग अणाइज्जदुग सतरछेओ ।
सगसीइ देसि तिरिगइआउ निउज्जोय तिकसाया ॥१६॥

अट्ठच्छेओ इगसी पमत्ति आहार-जुगल-पक्खेवा ।
थीणतिगाहारगदुग छेओ छस्सयरि अपमत्ते ॥१७॥

गाथार्थ—सूक्ष्मत्रिक, आतप नाम और मिथ्यात्व मोहनीय का मिथ्यात्व गुणस्थान के अन्त में क्षय होने से और नरकानुपूर्वी का अनुदय होने से सासादन गुणस्थान मे एक सौ ग्यारह प्रकृतियों का उदय होता है। अनन्तानुबंधी चतुष्क, स्थावर नाम, एकेन्द्रिय जाति, विकलेन्द्रियत्रिक का अन्त होने से तथा आनुपूर्वी नामकर्म का अनुदय एवं मिश्र मोहनीय का उदय होने से मिश्र गुणस्थान मे सौ प्रकृतियो का उदय होता है। तीसरे गुणस्थान के अन्त मे मिश्र मोहनीय का अन्त होने से तथा सम्यक्त्व मोहनीय एवं चारों आनुपूर्वियों को मिलाने से अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में एक सौ चार प्रकृतियों का और दूसरी अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, मनुष्य-आनुपूर्वी, तिर्यन्च-आनुपूर्वी, वैक्रियाष्टक, दुर्भग और अनादेयद्विक इन सत्रह प्रकृतियों को चौथे गुणस्थान की उदययोग्य एक सौ चार प्रकृतियों में से कम करने पर देशविरत गुणस्थान में सतासी प्रकृतियों का उदय होता है। पांचवें गुणस्थान की उक्त सतासी प्रकृतियों में से तिर्यंचगति और आयु, नीच-गोत्र, उद्योत, तीसरी प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का छेद

होने तथा आहारक द्विक को मिलाने से छठे प्रमत्तविरत गुणस्थान मे इक्यासी प्रकृतियों का उदय होता है और स्त्यानर्द्धित्रिक और आहारकद्विक इन पाँच प्रकृतियों का छठे गुणस्थान की उदययोग्य प्रकृतियों मे से कम करने पर सातवे अप्रमत्तविरत गुणस्थान में छिहत्तर प्रकृतियों का उदय माना जाता है।

विशेषार्थ—इन चार गाथाओं मे दूसरे सासादन गुणस्थान, तीस सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान, चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान, पाँचवे देशविरत गुणस्थान, छठे प्रमत्तसंयत गुणस्था और सातवे अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियों की संख्य और उस-उस गुणस्थान के अन्त में विच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों नामों में से किन्ही के पूरे नाम और किन्ही के संज्ञाओं द्वारा नाम बत लाये है।

पूर्व गाथा मे पहले मिथ्यात्व गुणस्थान की उदययोग्य प्रकृतिय की सख्या ११७ बतलाई है। उनमे से यहाँ क्रमप्राप्त पहले के बा दूसरे गुणस्थान की उदययोग्य प्रकृतियों की सख्या और पहले गुण स्थान के अन्त मे उदयविच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों के नामों व उल्लेख करते है।

पहले गुणस्थान मे जो ११७ प्रकृतियाँ उदययोग्य मानी जाती उनमे से सूक्ष्मत्रिक—सूक्ष्म नामकर्म, अपर्याप्त नामकर्म, साधार नामकर्म तथा आतप नामकर्म, और मिथ्यात्व मोहनीय— पाँच प्रकृतियाँ मिथ्यात्व के कारण ही उदय मे आती है। कि सासादन गुणस्थान मे मिथ्यात्व का अभाव है, अर्थात् मिथ्यात्व व विच्छेद हो जाने पर ही सासादन सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, अ

मिथ्यात्व के अभाव मे सूक्ष्मत्रिक आदि पाँच प्रकृतियों का दूसरे सासादन गुणस्थान मे उदय नही हो सकता है।

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि सूक्ष्म नामकर्म का उदय सूक्ष्म जीवों को ही, अपर्याप्त नामकर्म का उदय अपर्याप्त जीवों को और साधारण नामकर्म का उदय साधारण जीवों को ही होता है। परन्तु सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण जीवों को न तो सासादन गुण-स्थान प्राप्त होता है और न कोई सासादनत्व को ही प्राप्त करता है और न कोई सासादन प्राप्त जीव सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण रूप में पैदा होता है, अर्थात् सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण जीव मिथ्यात्वी ही होते है।

आतप नामकर्म का उदय उन्ही बादर पृथ्वीकायिक जीवों को होता है, जिन्होंने शरीर पर्याप्ति को पूर्ण कर लिया है। अर्थात् शरीर पर्याप्ति पूर्ण हो जाने के बाद बादर पृथ्वीकायिक जीवों के ही आतप नामकर्म का उदय हो सकता है, पहले नही। लेकिन सासादन सम्यक्त्व को पाकर जो जीव बादर पृथ्वीकाय मे जन्मग्रहण करते है, वे शरीर पर्याप्ति को पूरा करने के पहले ही अर्थात् आतप नामकर्म के उदय का अवसर आने के पहले ही पूर्वप्राप्त सास्वादन सम्यक्त्व का वमन कर देते है यानी बादर पृथ्वीकायिक जीवों को जब सास्वादन सम्यक्त्व की सभावना होती है तब आतप नामकर्म का उदय संभव नही है और जिस समय आतप नामकर्म होना सभव होता है, उस समय उनके सास्वादन सम्यक्त्व होना सभव नही होता है। इसी कारण सासादन गुणस्थान में आतप नामकर्म का उदय नही माना जाता है।

मिथ्यात्व का उदय पहले गुणस्थान मे ही होता है, किन्तु सास्वा-दन सम्यक्त्व पहले गुणस्थान मे कदापि नही हो सकता है। क्योंकि

होने तथा आहारक द्विक को मिलाने से छठे प्रमत्तविरत गुणस्थान में इक्यासी प्रकृतियों का उदय होता है और स्त्यानर्द्धित्रिक और आहारकद्विक इन पाँच प्रकृतियो का छठे गुणस्थान की उदययोग्य प्रकृतियों मे से कम करने पर सातवे अप्रमत्तविरत गुणस्थान में छिहत्तर प्रकृतियों का उदय माना जाता है।

विशेषार्थ—इन चार गाथाओं में दूसरे सासादन गुणस्थान, तीसरे सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान, चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान, पाँचवे देशविरत गुणस्थान, छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान और सातवे अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या और उस-उस गुणस्थान के अन्त में विच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों के नामों में से किन्ही के पूरे नाम और किन्ही के सज्ञाओं द्वारा नाम बतलाये है।

पूर्व गाथा मे पहले मिथ्यात्व गुणस्थान की उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या ११७ बतलाई है। उनमें से यहाँ क्रमप्राप्त पहले के बाद दूसरे गुणस्थान की उदययोग्य प्रकृतियों की सख्या और पहले गुणस्थान के अन्त में उदयविच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों के नामों का उल्लेख करते हैं।

पहले गुणस्थान मे जो ११७ प्रकृतियाँ उदययोग्य मानी जाती हैं, उनमे से सूक्ष्मत्रिक—सूक्ष्म नामकर्म, अपर्याप्त नामकर्म, साधारण नामकर्म तथा आतप नामकर्म, और मिथ्यात्व मोहनीय—ये पाँच प्रकृतियाँ मिथ्यात्व के कारण ही उदय मे आती है। किन्तु सासादन गुणस्थान में मिथ्यात्व का अभाव है, अर्थात् मिथ्यात्व का विच्छेद हो जाने पर ही सासादन सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, अतः

मिथ्यात्व के अभाव मे सूक्ष्मत्रिक आदि पाँच प्रकृतियों का दूसरे
ासादन गुणस्थान मे उदय नही हो सकता है।

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि सूक्ष्म नामकर्म का उदय
क्ष्म जीवों को ही, अपर्याप्त नामकर्म का उदय अपर्याप्त जीवों को
ौर साधारण नामकर्म का उदय साधारण जीवों को ही होता है।
रन्तु सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण जीवों को न तो सासादन गुण-
थान प्राप्त होता है और न कोई सासादनत्व को ही प्राप्त करता
और न कोई सासादन प्राप्त जीव सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण
प मे पैदा होता है, अर्थात् सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण जीव
मथ्यात्वी ही होते हैं।

आतप नामकर्म का उदय उन्हीं बादर पृथ्वीकायिक जीवों को
ोता है, जिन्होने शरीर पर्याप्ति को पूर्ण कर लिया है। अर्थात् शरीर
र्याप्ति पूर्ण हो जाने के बाद बादर पृथ्वीकायिक जीवों के ही आतप
ामकर्म का उदय हो सकता है, पहले नही। लेकिन सासादन
म्यक्त्व को पाकर जो जीव बादर पृथ्वीकाय मे जन्मग्रहण करते है,
े शरीर पर्याप्ति को पूरा करने के पहले ही अर्थात् आतप नामकर्म के
उदय का अवसर आने के पहले ही पूर्वप्राप्त सास्वादन सम्यक्त्व का
मन कर देते है यानी बादर पृथ्वीकायिक जीवों को जब सास्वादन
सम्यक्त्व की सभावना होती है तब आतप नामकर्म का उदय संभव
नही है और जिस समय आतप नामकर्म होना संभव होता है, उस
समय उनके सास्वादन सम्यक्त्व होना सभव नहीं होता है। इसी
कारण सासादन गुणस्थान में आतप नामकर्म का उदय नही माना
जाता है।

मिथ्यात्व का उदय पहले गुणस्थान में ही होता है, किन्तु सास्वा-
दन सम्यक्त्व पहले गुणस्थान में कदापि नहीं हो सकता है। क्योंकि

मिथ्यात्व का उदय सम्यक्त्व के सद्भाव मे होना किसी भी जीव में एक समय में होना असम्भव है।

अतः सूक्ष्म से लेकर मिथ्यात्व पर्यन्त पूर्वोक्त पाँच प्रकृतियो का विच्छेद पहले मिथ्यात्व गुणस्थान के चरम समय मे हो जाने से दूसरे आदि आगे के गुणस्थानों मे नही होता है।[1]

अतः पहले गुणस्थान की उदययोग्य ११७ प्रकृतियो मे से उक्त सूक्ष्म आदि पाँच प्रकृतियों के कम होने से ११२ प्रकृतियों का उदय दूसरे गुणस्थान मे होना चाहिए था किन्तु औपशमिक सम्यक्त्व से च्युत (पतित) होकर सासादन गुणस्थान मे आकर टिकने वाला जीव नरकगति मे नही जाता है, किन्तु मिथ्यात्व प्राप्त कर ही जाता है। इसलिए नरकगति मे जाने वाले जीव को सासादन गुणस्थान नही होने से नरकानुपूर्वी का उदय नही होता है। अर्थात् नरकानुपूर्वी का उदय वक्रगति से नरक मे जाने वाले जीवो को होता है। परन्तु उस अवस्था मे उन जीवों को सास्वादन सम्यक्त्व नही होता है।। नरक-आनुपूर्वी का उदय और सास्वादन सम्यक्त्व इन दोनों का किसी भी जीव में एक साथ होना असम्भव है,। सास्वादन सम्यक्त्व-प्रतिपन्न जीव नरक मे नही उपजता है। अतः सासादन गुणस्थान में नरकानुपूर्वी का उदय नही होता है।[2]

---

१. मिच्छे मिच्छादावं सुहुमतिय····· ····उदयवोच्छिण्णा।
मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे मिथ्यात्व, आतप, सूक्ष्मादि तीन—इन पाँच प्रकृतियों की उदयव्युच्छित्ति होती है।

—गो० कर्मकाण्ड २६५

२. णिरयं सासणसम्मो ण गच्छदित्ति य ण तस्स णिरयाणू।

—गो० कर्मकाण्ड २६२

इस प्रकार पहले गुणस्थान की उदययोग्य ११७ प्रकृतियों मे से पहले गुणस्थान के चरम समय मे व्युच्छिन्न होने वाली सूक्ष्म आदि पाँच प्रकृतियों एवं नरकानुपूर्वी प्रकृति सहित कुल छह प्रकृतियो को कम करने से दूसरे गुणस्थान मे १११ प्रकृतियों का उदय माना जाता है।

दूसरे गुणस्थान मे उदययोग्य प्रकृतियो को बतलाने के अनन्तर अब तीसरे गुणस्थान की उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या और दूसरे गुण-स्थान के अन्त में व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों के नाम बतलाते है।

दूसरे गुणस्थान में १११ प्रकृतियाँ उदययोग्य है। उनमें से अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ तथा स्थावर नाम, एकेन्द्रिय जाति और विकलेन्द्रियत्रिक–द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति और चतुरिन्द्रिय जाति—ये नौ प्रकृतियाँ दूसरे गुणस्थान के अन्तिम समय मे विच्छिन्न हो जाती है। क्योंकि अनन्ता-नुबन्धी कषाय चतुष्क का उदय पहले और दूसरे गुणस्थानों तक ही होता है, तीसरे आदि आगे के गुणस्थानों मे नही होता है तथा स्थावर नाम कर्म और एकेन्द्रिय जाति नामकर्म, द्वीन्द्रिय जाति नामकर्म, त्रीन्द्रिय जाति नामकर्म और चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्म के उदय वाले जीवों मे पहला और दूसरा गुणस्थान होता है। तीसरे से लेकर आगे के गुणस्थान नही होते है। क्योंकि स्थावर नाम और एकेन्द्रिय जाति नामकर्म का उदय एकेन्द्रिय जीवो को होता है तथा द्वीन्द्रिय जाति नामकर्म से लेकर चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्म का उदय द्वीन्द्रियादि उन-उनके योग्य इन्द्रियवालों के होता है। अर्थात् द्वीन्द्रिय जातिनाम का उदय द्वीन्द्रिय जीवों को, त्रीन्द्रिय जातिनाम का उदय त्रीन्द्रिय जीवों को और चतुरिन्द्रिय जातिनाम का उदय चतुरिन्द्रिय जीवों को

होता है और इन सब जीवों के पहला या दूसरा ये दो ही गुणस्थान हो सकते है।

अत: अनन्तानुबन्धी क्रोध से लेकर चतुरिन्द्रिय जातिनाम पर्यन्त कुल नौ प्रकृतियों का उदयविच्छेद दूसरे गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाता है[1] तथा 'अणुपुव्वीणुदया' अर्थात् नरकानुपूर्वी का उदय-विच्छेद पहले गुणस्थान के चरम समय मे हो जाने से शेष रही हुई तिर्यचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी—ये तीन आनुपूर्वियाँ तीसरे गुणस्थान मे उदययोग्य न होने से अर्थात् अनुदयरूप होने से तीसरे गुणस्थान की उदय प्रकृतियों मे नही गिनी जाती है।

आनुपूर्वी नामकर्म का उदय जीवों को उसी समय होता है, जिस समय कि वे दूसरे स्थान पर जन्म ग्रहण करने के लिए वक्रगति जाते है। किन्तु तीसरे गुणस्थान मे वर्तमान जीव मरता नही है और जब वर्तमान भव सम्बन्धी शरीर को छोड़कर आगामी भव सम्बन्धी शरीर को ग्रहण करने की सभावना ही तीसरे गुणस्थानवर्ती जीव के नही तो नवीन भव के शरीर को ग्रहण करने के लिए विग्रहगति मे विद्यमान जीव को वैसा अध्यवसाय न होने से सहकारी आनुपूर्वी नाम-कर्म का उदय भी नही हो सकता है। इसीलिए तीसरे गुणस्थान मे आनुपूर्वियों का अनुदय माना जाता है, अर्थात् आनुपूर्वी नामकर्म का उदय दूसरे-दूसरे गुणस्थानों में होता है, [2] किन्तु तीसरे मिश्रगुणस्थान में नही होता है।

---

१. सासणे अणेइन्दी. थावरवियल च उदय वोच्छिण्णा।

—गो० कर्मकाण्ड २६५

२. आनुपूर्वी नाम कर्म का उदय 'मिच्छदुगयदेव आणुदयो' मिथ्यात्व, सास्वादन तथा अविरत सम्यग्दृष्टि—इन तीनो गुणस्थानो मे ही होता है।

इस प्रकार अनन्तानुबन्धी क्रोध से लेकर चतुरिन्द्रिय नामकर्म पर्यन्त कुल नौ प्रकृतियों तथा तिर्यच, मनुष्य और देव आनुपूर्वी इन तीन पूर्वियों सहित बारह प्रकृतियों को दूसरे गुणस्थान में उदययोग्य १११ प्रकृतियों में से कम करने पर तीसरे गुणस्थान मे ९९ प्रकृतियों का उदय होना माना जाना चाहिए, किन्तु मिश्रमोहनीय कर्म का उदय तीसरे गुणस्थान 'मीसे मीसोदएण' में ही होने से उक्त ९९ प्रकृतियो में मिश्र मोहनीय कर्म को मिलाने से कुल १०० प्रकृतियों का उदय तीसरे गुणस्थान मे माना जाता है।

तीसरे गुणस्थान मे उदययोग्य मानी जाने वाली १०० प्रकृतियों मे से इसी गुणस्थान के अन्तिम समय मे मिश्र मोहनीय का उदय-विच्छेद हो जाता है।[1] अतः उक्त १०० प्रकृतियों में से मिश्र मोहनीय के सिवाय शेष रही ९९ प्रकृतियों का उदय चौथे गुणस्थानवर्ती जीवों के 'सम्माणुपुव्विखेवा' सम्यक्त्व मोहनीय एवं चारों आनुपूर्वियों—नारक, तिर्यच, मनुष्य और देव आनुपूर्वियों का उदय[2] होना संभव है। इसलिए पूर्वोक्त ९९ प्रकृतियों में सम्यक्त्व मोहनीय, नरकानुपूर्वी, तिर्यचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी और देवानुपूर्वी—इन पाँच प्रकृतियों को

---

१. मिस्से मिस्सं च उदयवोच्छिण्णा।

—गो० कर्मकाण्ड २६५

२. अविरत सम्यग्दृष्टि जीव व्रतादि सयम का पालन नही करता है और ऐसा जीव (निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम्—तत्त्वार्थसूत्र, अ० ६, सूत्र १९) चारो गति सम्बन्धी आयु का बन्ध कर सकता है। अत परभव सम्बन्धी शरीर को ग्रहण करने के लिए विग्रहगति से जाते समय चारो आनुपूर्वियो मे से यथायोग्य उस नाम वाले आनुपूर्वी नाम कर्म का उदय अविरत सम्यग्दृष्टि जीव को होता है।

मिलाने से कुल १०४ प्रकृतियों का उदय चोथे गुणस्थान मे वर्तमान जीवो को माना जाता है।

अप्रत्याख्यानावरण कपायचतुष्क का उदय चौथे गुणस्थान तक रहता है और जव तक उक्त कपायचतुष्क का उदय है, तव तक जीवो को पॉचवे देशविरत गुणस्थान की प्राप्ति नही हो सकती है। अर्थात् अप्रत्याख्यानावरण कपायचतुष्क का उदय पहले से चौथे चार गुणस्थानों तक में ही समझना चाहिए, पॉचवे आदि आगे के गुणस्थानों मे नही।

पाँचवाॅ गुणस्थान तिर्यचो को होना सभव है और पॉचवे से लेकर आगे के गुणस्थान मनुष्यो को हो सकते है, देवों और नारकों को नहीं और मनुष्य तथा तिर्यच भी आठ वर्ष की उम्र हो जाने के वाद ही उन गुणस्थानों को प्राप्त करने योग्य होते है, उसके पहले नही। अत आनुपूर्वी नामकर्म का उदय वक्रगति से परभव सम्वन्धी शरीर को ग्रहण करने जाते समय आत्मा को होता है, परन्तु किसी भी आनुपूर्वी कर्म के उदय के समय जीवों को पॉचवाॅ आदि गुणस्थान होना सभव नही है। अतः तिर्यचानुपूर्वी और मनुष्यानुपूर्वी का उदय पॉचवे गुणस्थान मे होना असंभव है और इसीलिए चौथे गुणस्थान के चरम समय में इनका उदयविच्छेद होना माना जाता है। नारक और देवआनपूर्वी—इन दो आनुपूर्वियों का उदय भी पॉचवे गुणस्थान मे नही होता है। इन दोनो के नाम गाथा मे 'विउव्वट्ठ' वैक्रिय अष्टक शब्द मे ग्रहण किये गये है, जिनका स्पष्टीकरण आगे किया जा रहा है।

यह पहले बताया जा चुका है कि देव और नारकों को पॉचवा आदि गुणस्थान नही होते है। अतः वैक्रिय अष्टक सज्ञा मे ग्रहण की गई आठ प्रकृतियाॅ देव और नारकों से सम्बन्धित है और

इसलिए इन आठ प्रकृतियों को पाँचवें गुणस्थान के उदययोग्य नहीं माना जाता है। वैक्रिय अष्टक के नाम इस प्रकार हैं—

(१) वैक्रिय शरीर, (२) वैक्रिय अंगोपांग, (३) देवायु, (४) देवगति, (५) देवानुपूर्वी, (६) नरकायु, (७) नरकगति और (८) नरकानुपूर्वी।

इन आठ प्रकृतियों में से देवायु और देवगति का उदय देवों में ही पाया जाता है और नरकायु तथा नरकगति का उदय नारकों को ही होता है। वैक्रिय शरीर और वैक्रिय अंगोपांग नामकर्म का उदय देव और नारक—दोनों को होता है। परन्तु यह पहले कहा जा चुका है कि देव, नारकों में पाँचवां आदि गुणस्थान नहीं होता है। तथा इसी प्रकार देवानुपूर्वी और नरकानुपूर्वी—इन दोनों आनुपूर्वियों के विषय में भी बताया जा चुका है कि वक्रगति से नवीन शरीर धारण करने वाले समय होता है और उस समय जीवों के पाँचवें आदि गुणस्थान नहीं होते हैं। इसलिए वैक्रियाष्टक में बताई गई आठ प्रकृतियों का उदयविच्छेद चौथे गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाने से पाँचवें गुणस्थान में उदय नहीं होता है।

शंका—पंचम गुणस्थानवर्ती मनुष्य और तिर्यंच दोनों ही वैक्रिय-लब्धि प्राप्त होने पर वैक्रिय शरीर और वैक्रिय अंगोपांग बना सकते हैं। इसी प्रकार छठे गुणस्थान में वर्तमान वैक्रियलब्धि-सम्पन्न मुनि भी वैक्रिय शरीर और वैक्रिय अंगोपांग बना सकते हैं। उस समय उन मनुष्यों और तिर्यंचों को वैक्रियशरीर नाम और वैक्रिय-अंगोपांग नामकर्म इन दोनों का उदय अवश्य रहता है। इसलिए पाँचवे और छठे गुणस्थान की उदययोग्य प्रकृतियों में वैक्रियशरीर नामकर्म और वैक्रिय अंगोपांग नामकर्म इन दोनों प्रकृतियों की गणना की जानी चाहिए।

समाधान—जिनको जन्म से लेकर मरण तक यावज्जीवन वैक्रिय-शरीर नाम और वैक्रिय अगोपाग नामकर्म का उदय रहता है, ऐसे देव और नारकों की अपेक्षा से यहाँ उदयविचार किया गया है। किन्तु मनुष्यों और तिर्यचों मे तो कुछ समय के लिए इन दो प्रकृतियों का उदय हो सकता है, सो भी सभी मनुष्यो और तिर्यचों मे नही। इसीलिए मनुष्यों और तिर्यचो की अपेक्षा से पाँचवे और छठे गुण-स्थान में उक्त दो प्रकृतियो का उदय सम्भव होने पर भी उसकी विवक्षा नही की गई है। अर्थात् मनुष्य और तिर्यचो को उत्तर वैक्रिय (गुणप्रत्यय वैक्रिय—लब्धिविशेप से उत्पन्न होने वाला) होता है और वह अविरत चक्रवर्ती आदि को भी हो सकता है तथा विष्णु-कुमारादिक मुनियो के भी वैक्रियलब्धि होने का सुना है और छठे कर्मग्रन्थ मे भी योग के भागों मे अप्रमत्त को वैक्रियद्विक का उदय कहा है, परन्तु यहाँ गुणप्रत्ययिक उत्तर वैक्रिय की विवक्षा नही की गई है, उस गति मे जन्म लेने से (भवप्रत्यय) प्राप्त होने वाले वैक्रियद्विक की विवक्षा की गई है। ऐसा भवप्रत्यय वैक्रिय शरीर और वैक्रिय अगोपाग नामकर्म देव और नारको को ही होता है मनुष्य और तिर्यचो को नही होता है और पाचवा गुणस्थान मनुष्य और तिर्यचो को ही होता है, देव और नारको को नही। इसलिए वैक्रिय शरीर नामकर्म और वैक्रिय अगोपाग नामकर्म इन दो प्रकृतियों का उदय पाँचवे गुणस्थान मे नही माना जाता है।

इसी प्रकार पाँचवे आदि गुणस्थानों को प्राप्त करने वाले जीवं के परिणाम इतने शुद्ध हो जाते है कि जिससे दुर्भग नामकर्म, अनादेय द्विक—अनादेय नामकर्म और अयश:कीर्ति नामकर्म ये तीन प्रकृतिया पहले चार गुणस्थानों मे ही उदय हो सकती है, किन्तु पाँचवे आदि आगे के गुणस्थानो मे इनका उदय होना सम्भव नही है।

इसलिए चौथे गुणस्थान में उदययोग्य १०४ प्रकृतियों में से अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी वैक्रियाष्टक, दुर्भग नामकर्म, अनादेय नामकर्म, अयशःकीर्ति नामकर्म इन १७ प्रकृतियो का चौथे गुणस्थान के चरम समय मे अन्त हो जाता है।[1] अत इन १७ प्रकृतियों को चौथे गुणस्थान की उदययोग्य १०४ प्रकृतियों मे से कम करने पर पाँचवे गुणस्थान में ८७ प्रकृतियों का उदय माना जाता है।

पाँचवे गुणस्थान में जो ८७ प्रकृतियों का उदय होता है, उनमें से 'तिरिगइ आउ निउज्जोय' तिर्यंचगति, तिर्यंच आयु, नीच गोत्र और उद्योत नामकर्म[2] ये चार प्रकृतियाँ तिर्यंचों में उदययोग्य है और तिर्यंचों को पहले से पाँचवे तक पाँच गुणस्थान ही हो सकते है, छठे आदि आगे के गुणस्थान नही होते है। इसलिए इन प्रकृतियों का उदय विच्छेद पाँचवे गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाता है, अर्थात् छठे आदि आगे के गुणस्थानों मे उदययोग्य नही है।

---

१ तुलना करो—

अयदे विदियकसाया वेगुव्विय छक्क णिरयदेवाऊ।
मणुयतिरियाणुपुव्वी दुब्भगणादेज्ज अज्जसय॥

—गो० कर्मकाण्ड २६६

२. शास्त्र मे 'जइदेवुत्तरविक्रिय' पद मे मुनियो और देवो को उत्तर वैक्रिय शरीर धारण करने और उस शरीर को धारण करते समय उद्योत नामकर्म का उदय होना कहा है अत. जव वैक्रिय शरीर वाले की अपेक्षा से छठे गुणास्थान मे उद्योत नामकर्म का उदय पाया जाता है तव पाँचवे गुणस्थान तक ही उद्योत नामकर्म का उदय क्यो माना जाता है? इसका समाधान यह है कि पाँचवे गुणस्थान तक जन्म के निमित्त से होने वाला ही उद्योत नामकर्म का उदय विवक्षित किया गया है, लब्धि के निमित्त से होने वाला उद्योत नामकर्म का उदय विवक्षित नही किया गया है।

शंका—तिर्यचो की तरह मनुष्यो मे भी नीचगोत्र का उदय होना सम्भव है और मनुष्यों के छठे गुणस्थान से लेकर आगे के सभी गुणस्थान होते है। इसलिए तिर्यचों को पहले से पाँचवे तक पाँच गुणस्थान होने से नीचगोत्र का उदय तिर्यंचो की अपेक्षा पाँचवे गुणस्थान तक ही नही माना जाना चाहिए।

समाधान—नीचगोत्र का उदय मनुष्य को पहले से चौथे तक—चार गुणस्थानों तक ही हो सकता है। पाँचवाँ आदि गुणस्थान प्राप्त होने पर मनुष्यों में ऐसे गुण प्राप्त होते है कि जिनसे उनमे नीचगोत्र का उदय हो ही नही सकता है। उच्चगोत्र का उदय अवश्य हो सकता है। परन्तु तिर्यचो को तो अपने योग्य सब गुणस्थानो, अर्थात् एक से लेकर पाँचवे गुणस्थान तक मे स्वभाव से ही नीचगोत्र का उदय रहता है, उच्चगोत्र का उदय होता ही नहीं है। इसीलिए पांचवे गुणस्थान के अन्तिम समय में नीचगोत्र का उदय-विच्छेद होना माना जाता है। क्योंकि पाँचवे गुणस्थान से आगे के गुणस्थान तिर्यचों को होना सम्भव नही है।

इस प्रकार तिर्यच गति आदि उद्योत पर्यन्त चार प्रकृतियों का उदय पांचवे गुणस्थान तक ही माना जाता है तथा प्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क—प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ—का उदय जब तक रहता है, तब तक छठे गुणस्थान से लेकर आगे के किसी भी गुणस्थान की प्राप्ति नही होती है और छठे आदि गुणस्थानों के प्राप्त होने के बाद प्रत्याख्यानावरण कषायो का उदय हो नही सकता है। क्योंकि छठे गुणस्थानवर्ती मुनि सकल संयम—महाव्रतो का पालन करते है और प्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि कपाय सकल संयम का घात करती है, अर्थात् जब तक

प्रत्याख्यानावरण कषायों का उदय रहता है, तब तक सकल संयम का पालन नही हो सकता है और न छठा गुणस्थान प्राप्त हो सकता है। इसलिए इन कषायों का पॉचवें गुणस्थान के अन्तिम समय में विच्छेद हो जाने से छठे गुणस्थान में उदययोग्य नहीं मानी जाती है।

इस प्रकार पॉचवे गुणस्थान की उदययोग्य ८७ प्रकृतियों में से तिर्यचगति, तिर्यचायु, नीचगोत्र, उद्योत नामकर्म और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ इन आठ प्रकृतियों का उदय-विच्छेद पाँचवे गुणस्थान के अन्तिम समय मे हो जाता है।[1] अत. इन आठ कर्मप्रकृतियो के बिना ७९ प्रकृतियो का उदय छठे गुणस्थान में होना माना जाना चाहिए। किन्तु आहारक-द्विक—आहारक शरीर नाम और आहारक अंगोपांग नामकर्म—इन दो प्रकृतियों का उदय छठे गुणस्थान में ही होने से पूर्वोक्त ७९ प्रकृतियों मे इन दो को मिलाने से कुल ८१ प्रकृतियों का छठे गुणस्थान में उदय होना माना जाता है।

छठे गुणस्थान में आहारक शरीर नाम और आहारक अगोपांग नामकर्म का उदय उस समय पाया जाता है, जिस समय कोई चतुर्दश पूर्वधर मुनि लब्धि के द्वारा आहारक शरीर की रचना कर उसे धारण करते है। चतुर्दश पूर्वधारी किसी सूक्ष्म विषय में सन्देह उत्पन्न होने पर निकट में सर्वज्ञ के विद्यमान न होने से औदारिक शरीर से क्षेत्रान्तर में जाना असम्भव समझकर अपनी विशिष्ट लब्धि के प्रयोग द्वारा शुभ, सुन्दर, निरवद्य और अव्याघाती आहारक शरीर

---

१. देसे तदियकसाया तिरियाउज्जोवणीच तिरियगदी।

—गो० कर्मकाण्ड २६७

का निर्माण करते है और ऐसे शरीर से क्षेत्रान्तर मे सर्वज्ञ के पास पहुँचकर उनसे सन्देह का निवारण कर फिर अपने स्थान पर वापस आ जाते है।[1]

लेकिन वह चतुर्दश पूर्वधारी मुनि लब्धि का प्रयोग करने वाले होने से अवश्य ही प्रमादी होते है। जो लब्धि का प्रयोग करता है, वह उत्सुक हो ही जाता है और उत्सुकता हुई कि स्थिरता या एकाग्रता का भंग हुआ। एकाग्रता के भग होने को ही प्रमाद कहते है। इसलिए आहारकद्विक का उदय छठे गुणस्थान मे ही माना जाता है।

छठे—प्रमत्तसंयत गुणस्थान और सातवे—अप्रमत्तसयत गुणस्थान में इतना ही अन्तर है कि दोनों गुणस्थानो मे सकल सयम का पालन किया जाता है लेकिन छठे गुणस्थान में प्रमादवश सयम की विराधना भी हो सकती है। लेकिन सातवे गुणस्थान मे प्रमाद का अभाव होने से सयम मे दोष लगने की सम्भावना नही है। इसलिए छठे गुणस्थान से आगे किसी भी गुणस्थान मे प्रमाद न होने से प्रमाद जन्य प्रकृतियो का उदय नही होता है।

छठे गुणस्थान मे उदययोग्य ८१ प्रकृतियाँ कही हैं, उनमे से स्त्यानर्द्धित्रिक—निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि तथा

---

१. शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारक चतुर्दश पूर्वधरस्यैव।

—तत्वार्थसूत्र २—४६

इसे आहारक समुद्घात भी कहते है। यह आहारक शरीर वनाते समय होता है एव आहारक शरीर नामकर्म को विषय करता हुआ, अर्थात् आहारक लब्धि वाला साधु आहारक शरीर वनाने की इच्छा करता हुआ यथा स्थूल पूर्वबद्ध आहारक नामकर्म के प्रभूत पुद्गलों की निर्जरा करता है

आहारक द्विक—इन पाँच प्रकृतियों का उदय सातवे गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानों में नही होता है।[1] क्योंकि स्त्यानर्द्धित्रिक का उदय प्रमाद रूप है और छठे गुणस्थान से आगे प्रमाद का अभाव है। आहारकद्विक का उदय तो प्रमत्तसंयत को ही होता है। इसलिए इन पाँच प्रकृतियों का उदय विच्छेद छठे गुणस्थान के चरम समय में हो जाता है, जिससे छठे गुणस्थान में उदय योग्य ८१ प्रकृतियों में से इन पाँच प्रकृतियों को कम करने से सातवे गुणस्थान में ७६ प्रकृतियों का उदय माना जाता है।

यद्यपि आहारक शरीर बना लेने के बाद भी कोई मुनि विशुद्ध परिणाम से आहारक शरीरवान होने पर भी सातवें गुणस्थान को पा सकते है। परन्तु ऐसा वहुत कम होता है। बहुत ही अल्पकाल के लिए ऐसा होता है, अतएव सातवे गुणस्थान में आहारकद्विक के उदय को गिना नही है। इसीलिए सातवे गुणस्थान में ७६ प्रकृतियों का उदय माना है।

सारांश यह है कि पहले गुणस्थान में जिन ११७ प्रकृतियों का उदय होता है, उनमे से सूक्ष्म आदि नरकानुपूर्वी तक छह प्रकृतियों को कम करने से दूसरे गुणस्थान मे १११ प्रकृतियों का उदय माना जाता है। अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय ये चार जाति नामकर्म, स्थावर नामकर्म और मनुष्य, तिर्यंच एवं देव आनुपूर्वी—ये तीन आनुपूर्वी नामकर्म कुल १२ प्रकृतियों का दूसरे गुणस्थान के अन्त मे विच्छेद हो जाने तथा मिश्र मोहनीय का

---

१. तुलना करो—

छट्ठे आहारदुग थीणतिय उदयवोच्छिण्णा।

—गो० कर्मकाण्ड २६७

उदय तीसरे गुणस्थान मे ही उदययोग्य होने से तीसरे गुणस्थान मे सौ प्रकृतियों का उदय होता है।

तीसरे गुणस्थान मे जो सौ प्रकृतियाँ उदययोग्य है, उनमे से मिश्र मोहनीय का उदय तीसरे गुणस्थान मे ही होने योग्य है, अन्य गुणस्थानों में उदययोग्य न होने से उसे कम करके और उसके स्थान पर सम्यक्त्वमोहनीय का तथा चारो आनुपूर्वी नामकर्म का भी उदय चौथे गुणस्थान मे होने से १०४ प्रकृतियों का उदय चौथे गुणस्थान मे होता है। इन १०४ प्रकृतियों मे से मनुष्य व तिर्यंचानुपूर्वी वैक्रिय-अष्टक, दुर्भग नामकर्म और अनादेयद्विक तथा अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क कुल १७ प्रकृतियों का चौथे गुणस्थान के अन्तिम समय मे विच्छेद हो जाने से पाँचवे गुणस्थान मे ८७ प्रकृतियाँ उदययोग्य मानी जाती है।

उक्त ८७ प्रकृतियों मे से तिर्यंच गति, तिर्यंच आयु, नीच गोत्र उद्योत नामकर्म तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क इन आठ प्रकृतियों को घटाने और आहारकद्विक को मिलाने से छठे गुणस्थान मे ८१ प्रकृतियों का उदय हो सकता है और स्त्यानर्द्धित्रिक एव आहारकद्विक—इन पाँच प्रकृतियों के प्रमाद रूप होने से छठे गुणस्थान तक ही उदययोग्य रहती है, आगे के गुणस्थानों मे उदय मे नही आती हैं। अतः उक्त पाँच प्रकृतियों को कम करने से सातवें गुणस्थान मे ७६ प्रकृतियो का उदय होता है।

इस प्रकार अभी तक पहले से लेकर सातवें गुणस्थान तक उन-उन गुणस्थानों के योग्य उदय प्रकृतियों की सख्या और उनके अन्तिम समय मे उदयविच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों के नाम बताये जा चुके है। अब आगे की गाथाओं मे आठवे—अपूर्वकरण गुणस्थान से

लेकर ग्यारहवे—उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थानों में कर्मप्रकृतियों के उदय आदि को समझाते हैं।

सम्मत्तंतिमसंघयणतियगच्छेओ बिसत्तरि अपुव्वे।
हासाइछक्कअंतो छसट्ठि अनियट्टिवेयतिगं ॥ १८ ॥

संजलणतिगं छच्छेओ सट्ठि सुहमंमि तुरियलोभंतो।
उवसंतगुणे गुणसट्ठि रिसहनारायदुगअंतो ॥ १९ ॥

गाथार्थ—सम्यक्त्व मोहनीय और अन्त के तीन सहनन का अन्त होने से अपूर्वकरण गुणस्थान में ७२ प्रकृतियों का उदय तथा इनमें से हास्यादिषट्क का अन्त होने से ६६ प्रकृतियों का उदय अनिवृत्ति बादर संपराय गुणस्थान में होता है। वेदत्रिक और संज्वलनत्रिक कुल छह प्रकृतियों का विच्छेद नौवें अनिवृत्ति बादर संपराय गुणस्थान के अन्तिम समय में होने से दसवे—सूक्ष्म सपराय गुणस्थान में ६० प्रकृतियाँ उदययोग्य है तथा संज्वलन लोभ का दसवे गुणस्थान के अन्त में विच्छेद हो जाने से ग्यारहवे—उपशान्त मोह० गुणस्थान में ५९ प्रकृतियाँ उदययोग्य मानी जाती है तथा इन ५९ प्रकृतियों में से ऋषभनाराच संहननद्विक का विच्छेद ग्यारहवे गुणस्थान के अन्त में होता है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में आठवे, नौवे, दसवें और ग्यारहवे गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियों की सख्या और उन-उनके अन्त में व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों के नाम वतलाये है।

सातवे गुणस्थान से आगे के गुणस्थान श्रेणि आरोहण करने वाले मुनि के होते है और श्रेणी का आरोहण वह मुनि करता है, जिसके सम्यक्त्व मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय हो जाता है, दूसरा नहीं।

जब एक सम्यक्त्व मोहनीय कर्म का उदय रहता है, तब तक श्रेणि आरोहण नही किया जा सकता है। जो जीव सम्यक्त्व मोहनीय का उपशम करके श्रेणि आरोहण करता है, उसको औपशमिक श्रेणि वाला और क्षय करके श्रेणि आरोहण करता है उसको क्षपक श्रेणिवाला कहते है। अर्थात् सम्यक्त्व मोहनीय के उपशम से औपशमिक श्रेणि और क्षय से क्षायिक (क्षपक) श्रेणि कहलाती है।

इसीलिए सातवे गुणस्थान मे उदय योग्य ७६ प्रकृतियों मे से उसके अन्तिम समय मे सम्यक्त्व मोहनीय का उदयविच्छेद हो जात है तथा श्रेणि आरोहण की क्षमता आदि के तीन संहनन वाले जीवो के ही होती है और अन्तिम तीन सहनन वाले मंद विशुद्धि वाले होते है ए उनकी क्षमता श्रेणि आरोहण करने योग्य नही होती है। इसलि अन्तिम संहननत्रिक—अर्धनाराच सहनन, कीलिका संहनन और सेवा सहनन—का उदयविच्छेद सातवे गुणस्थान के अन्तिम सम में हो जाता है।[1] इसलिए सातवे गुणस्थान की उदययोग्य ७६ प्रकृतियों मे उक्त चार प्रकृतियों को कम करने से आठवे गुणस्थान मे ७२ प्रकृतियों का उदय होता है।

गुणस्थानों के बढ़ते क्रम के साथ आत्मा के परिणामों की विशुद्धता बढ़ती जाती है। अतः नौवे गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानो मे सक्लिष्ट परिणाम रूप प्रकृतियो का उदय होना भी न्यून से न्यूनतर होता जाता है। अत: इन गुणस्थानो मे हास्य, रति आदि नोकषायो का उदय नही हो पाता है।

इसलिए आठवे गुणस्थान में उदययोग्य ७२ प्रकृतियों मे से हास्यादि षट्क—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इन छह

१. तुलना करो—
अपमत्ते सम्मत्तं अतिमतिय सहदी। —गो० कर्मकाण्ड २६

प्रकृतियों का आठवे गुणस्थान के चरम समय में उदयविच्छेद हो जाने से नौवे गुणस्थान में सिर्फ ६६ प्रकृतियों का ही उदय हो सकता है। यद्यपि ६६ प्रकृतियों का उदय नौवें गुणस्थान के प्रारम्भ में होता है लेकिन परिणामो की विशुद्धि क्रमशः बढ़ती ही जाती है, जिससे वेद-त्रिक—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद तथा संज्वलन कषायत्रिक—सज्वलन क्रोध, संज्वलन मान और संज्वलन माया—कुल छह प्रकृतियों का उदय नौवे गुणस्थान में ही क्रमशः रुक जाता है।[1] अत नौवे गुणस्थान में उदय योग्य ६६ प्रकृतियों मे से वेदत्रिक और सज्वलन कषायत्रिक कुल छह प्रकृतियों को कम करने पर दसवें गुणस्थान मे साठ प्रकृतियाँ ही उदययोग्य रह जाती है। दसवे गुण-स्थान में उदययोग्य इन साठ प्रकृतियो मे से संज्वलन लोभ का उदय दसवे गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही होता है और उसके वाद विच्छेद हो जाता है। अतः उक्त ६० प्रकृतियों में से सज्वलन लोभ कषाय को कम करने से शेष ५९ प्रकृतियों का उदय ग्यारहवें गुणस्थान में पाया जाता है और इन उदययोग्य ५९ प्रकृतियों में से

---

१. नौवे गुणस्थान मे वेदत्रिक आदि छह प्रकृतियो के उदय विच्छेद का क्रम इस प्रकार होता है—यदि श्रेणि का प्रारभ स्त्री करती है तो वह पहले स्त्री-वेद का, अनन्तर पुरुषवेद का और उसके बाद नपुसकवेद का उदयविच्छेद करती है। अनन्तर क्रमश. सज्वलनत्रिक के उदय को रोकती है। यदि श्रेणि प्रारभ करने वाला पुरुष है तो वह सर्वप्रथम पुरुषवेद, पीछे स्त्रीवेद और उसके वाद नपुसकवेद का विच्छेद करके क्रमशः संज्वलनत्रिक का उदय रोकता है और श्रेणि को करने वाला यदि नपुंसक है तो पहले नपुंसक वेद का उदय रोककर उसके बाद स्त्रीवेद के उदय को, तत्पश्चात् पुरुषवेद को रोककर क्रमशः संज्वलनत्रिक के उदय को रोकता है।

ऋषभनाराच संहनन, नाराच सहनन इन दो सहननों का अन्त ग्यारहवें गुणस्थान के चरम समय में हो जाता है।[1] क्योंकि उपशम श्रेणि ग्यारहवे गुणस्थान तक होती है और उस श्रेणि का आरोहण करने वाले आदि के तीनों संहनन वाले हो सकते हैं। अर्थात् वज्रऋषभ-नाराच सहनन, ऋषभनाराच सहनन और नाराच संहनन—इन सह-ननों में से किसी भी सहनन वाला जीव श्रेणि आरोहण कर सकता है। किन्तु क्षपक श्रेणि तो वज्रऋषभनाराच सहनन वाला ही करता है। इसलिए बारहवे गुणस्थान में एक—वज्रऋषभनाराच संहनन ही होता है और शेष रहे दो सहननों—ऋषभनाराच सहनन और नाराच सहनन—का ग्यारहवे गुणस्थान के चरम समय मे अन्त हो जाता है।

ग्यारहवे गुणस्थान वाला तो निश्चय से गिरता है और उसी काल करे तो अनुत्तर विमान मे चतुर्थ गुणस्थानवर्ती देव होता है। वह बारहवे गुणस्थान में नही पहुँचता है। दसवे गुणस्थान वाला क्षायिक ही बारहवे गुणस्थान पर आरोहण करता है। क्षीणमोह वाले को ऋषभनाराच और नाराच संहनन का उदय होता ही नही, क्योंकि वे सत्ता में ही नही है।

---

१. तुलना करो—

....अपुव्वम्हि ।
छच्चेव णोकसाया अणियट्टीभागभागेसु ।।
वेदतिय कोहमाण मायासंजलणमेव सुहुमते ।
सुहुमो लोहो सते वज्जणारायणाराय ।।

—गो० कर्मकाण्ड २६८-२६९

साराश यह है कि सातवे गुणस्थान के आगे कर्मों के क्षय की गति तीव्र हो जाती है और कर्मक्षय मे तीव्रता भी आती है, जब सम्यक्त्व मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय करके श्रेणि आरोहण होता है। सम्यक्त्व मोहनीय के उपशम से उपशम श्रेणि और क्षय से क्षपक श्रेणि होती है। उपशम श्रेणि का आरोहण करने वाले मुनि के आठ, नौ, दस और ग्यारह ये चार गुणस्थान होते है और क्षपक श्रेणि करने वाले के आठ, नौ, दस और बारह ये चार गुणस्थान होते हैं। उपशम श्रेणि वाला ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुँचकर भी जिस क्रम से आगे-आगे के गुणस्थान प्राप्त करता है, उसी क्रम से च्युत होकर गुणस्थानों का अवरोहण करता है। किन्तु क्षपक श्रेणि को मांडनेवाला एक के बाद एक गुणस्थान पर बढ़ता जाता है और पुन. नही लौटता है। सम्पूर्ण कर्मो का क्षय करके सिद्ध-बुद्ध परमात्मा हो जाता है।

श्रेणि का प्रारम्भ आठवे गुणस्थान से होता है। आठवे गुणस्थान मे सातवे गुणस्थान की उदययोग्य ७६ प्रकृतियो मे से सम्यक्त्व मोहनीय और अन्तिम संहननत्रिक कुल चार प्रकृतियों का सातवे गुणस्थान के चरम समय मे उदय-विच्छेद हो जाने से ७२ प्रकृतियों का उदय होता है।

नौवें से लेकर आगे के गुणस्थानों मे अध्यवसायों की विशुद्धता बढती जाती है, अतः आठवे गुणस्थान की उदययोग्य ७२ प्रकृतियों में से उसके ही अन्तिम समय मे हास्यादि षट्क विच्छेद हो जाने से नौवें गुणस्थान मे ६६ प्रकृतियों का उदय माना जाता है। यद्यपि नौवे गुणस्थान के प्रारम्भ मे ६६ प्रकृतियों का उदय होता है, लेकिन परिणामो की विशुद्धता की वृद्धि से वेदत्रिक और संज्वलनत्रिक कुल छह प्रकृतियो का उदय नौवे गुणस्थान में ही क्रमशः रुक जाता है। अतएव

दसवें गुणस्थान में सिर्फ ६० प्रकृतियों का ही उदय रह जाता है।

दसवे गुणस्थान में जो ६० प्रकृतियों का उदय बताया है, उनमे से संज्वलन लोभ का उदय दसवे गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही होता है। अत सज्वलन लोभ को छोडकर शेप ५९ प्रकृतियो का उदय ग्यारहवें गुणस्थान में माना जाता है।

ग्यारहवे गुणस्थान को तो आदि के तीन सहननो मे से कोई एक संहनन वाला जीव प्राप्त कर सकता है। किन्तु वारहवे गुणस्थान को तो वज्रऋषभनाराच सहनन वाला ही प्राप्त करता है। अत. ग्यारहवें गुणस्थान की उदययोग्य ५९ प्रकृतियों मे से ऋपभनाराच संहनन और नाराच सहनन इन दो प्रकृतियो का उदयविच्छेद भी ग्यारहवे गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाता है।

ग्यारहवे गुणस्थान के वाद वारहवाँ—क्षीणकषाय—वीतराग छद्‌मस्थ गुणस्थान का क्रम है। अत. उसमें उदययोग्य प्रकृतियो की संख्या और उसके अन्तिम समय मे व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियो के नाम सहित तेरहवे—सयोगि केवलि गुणस्थान मे उदययोग्य प्रकृतियो की संख्या का निर्देश आगे की गाथा में करते है।

सगवन्न खीण दुचरमि निद्दुगंतो य चरमि पणपन्ना।
नाणंतरायदंसण-चउ छेओ सजोगि बायाला ॥२०॥

गाथार्थ—क्षीणकषाय वीतराग छद्‌मस्थ गुणस्थान मे ५७ प्रकृतियों का उदय रहता है। इन ५७ प्रकृतियों का उदय द्विचरम समय पर्यन्त पाया जाता है और निद्राद्विक का अन्त होने से अन्तिम समय में ५५ प्रकृतियों का उदय रहता है। पॉच ज्ञानावरण, पॉच अन्तराय और चार

दर्शनावरण का अन्त बारहवे गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाता है एवं सयोगि केवली गुणस्थान मे ४२ प्रकृतियाँ उदययोग्य है ।

विशेषार्थ—गाथा में बारहवें गुणस्थान के प्रारम्भ मे उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या बतलाकर बाद में अन्त होने वाली प्रकृतियों के नाम व तेरहवें गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या बतलाई है ।

पूर्व में यह बताया जा चुका है कि बारहवाँ गुणस्थान क्षपक श्रेणि का आरोहण करने वाले प्राप्त करते है और क्षपक श्रेणि का आरोहण करने वाले वज्रऋषभनाराच संहनन धारी जीव होते है, जबकि उपशम श्रेणि का आरोहण आदि के तीन सहननों में से कोई भी सहनन वाला कर सकता है । अतः बारहवाँ गुणस्थान क्षपक श्रेणि की अपेक्षा से है और इसीलिए ऋषभनाराच संहनन और नाराच संहनन इन दो सहननों का ग्यारहवे गुणस्थान के चरम समय में अन्त हो जाता है । जिससे ग्यारहवे गुणस्थान की उदययोग्य ५९ प्रकृतियों में से उक्त दो प्रकृतियों को कम करने से बारहवे गुणस्थान मे ५७ प्रकृतियों का उदय माना जाना चाहिए ।

परन्तु इन ५७ प्रकृतियों का उदय भी बारहवे गुणस्थान के द्विचरम समय पर्यन्त अर्थात् अन्तिम समय से पूर्व के समय पर्यन्त पाया जाता है । क्योंकि निद्राद्विक—निद्रा और प्रचला का उदय बारहवे गुणस्थान के अन्तिम समय मे नही होता है । इसलिए इन दो प्रकृतियों को छोड़कर शेष ५५ प्रकृतियों का उदय बारहवे गुणस्थान के अन्तिम समय में माना जाता है ।[1]

उक्त ५५ प्रकृतियों मे से भी ज्ञानावरण पंचक—मतिज्ञानावरण,

---

१. कितनेक आचार्यो का मत है कि उपशान्त मोहनीय गुणस्थान में ही निद्रा का उदय होता है, किन्तु विशुद्ध होने से क्षीणमोह गुणस्थान मे उदय नही

श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यायज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण, तथा अन्तराय पंचक—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय और दर्शनावरण चतुष्क-चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण अवधिदर्शनावरण और केवल-दर्शनावरण, कुल मिलाकर उक्त चौदह प्रकृतियों का उदय बारहवे गुणस्थान के अन्तिम समय से आगे नही होता है।[1] अर्थात् तेरहवे आदि गुणस्थानों में इन प्रकृतियो का उदय नही होता है, किन्तु बारहवे गुणस्थान के अन्तिम समय मे ही इनका विच्छेद हो जाता है। अत तेर-हवें सयोगि केवली गुणस्थान मे ४१ प्रकृतियाँ उदययोग्य मानी जानी चाहिए थी।

लेकिन तेरहवे गुणस्थान की कुछ अपनी विशेपता है और वह विशेषता यह है कि तीर्थङ्कर नामकर्म का उदय इस गुणस्थान को प्राप्त करने वाले जीवों को होता है।[2] अन्य गुणस्थानो मे तीर्थङ्कर नामकर्म का उदय नही होता हे। अत. पूर्वोक्त उदययोग्य ४१ प्रकृतियों के साथ एक तीर्थङ्कर नामकर्म को मिलाने से कुल ४२ प्रकृतियों का उदय तेरहवे गुणस्थान में माना जाता है। गाथा मे तेरहवे गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या बताई है। उनमें तीर्थङ्कर

होता है। उनके मतानुसार पहले से ही ५५ प्रकृतियो का उदय बारहवे गुणस्थान मे होता है। छठे कर्मग्रन्थ मे भी क्षीण मोहनीय गुणस्थान मे निद्रा का उदय नही बताया गया है।

१. तुलना करो—

खीणकसायदुचरिमे णिद्दा पयला य उदयवोच्छिण्णा।
णाणतरायदसय दसणचत्तारि चरिमम्हि ॥
—गो० कर्मकाण्ड २७०

२. तित्थ केवलिणि।

नामकर्म के उदय का संकेत आगे की गाथा में 'तित्थुदया' पद से किया गया है।

सारांश यह है कि बारहवे गुणस्थान के प्रथम समय मे जो ५७ प्रकृतियों का उदय कहा गया है, उनमे से निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों का उस गुणस्थान के चरम समय से पहले के समय मे अन्त हो जाने से ५५ प्रकृतियों का ही उदय रहता है और अन्तिम समय मे ५ ज्ञानावरण, ५ अन्तराय और ४ दर्शनावरण कर्म कुल १४ प्रकृतियों का उदयविच्छेद हो जाता है। अत ५५ प्रकृतियों में से उक्त १४ प्रकृतियों को कम करने से शेष रही ४१ प्रकृतियाँ और तीर्थङ्कर नामकर्म कुल ४२ प्रकृतियाँ—तेरहवे गुणस्थान मे उदययोग्य होती है।

अब आगे की गाथा में तेरहवे गुणस्थान में क्षय होने वाली प्रकृतियों के नाम और चौदहवे गुणस्थान मे उदययोग्य प्रकृतियों की सख्या तथा उसके भी चरम समय मे अन्त होने वाली प्रकृतियों के नाम वतलाते है।

तित्थुदया उरलाऽथिरखगइदुग परित्तिग छ संठाणा।
अगुरुलहुवन्नचउ निमिणतेयकम्माइसंघयणं ॥ २१ ॥
दूसर सूसर सायासाएगयरं च तीस वुच्छेओ।
बारस अजोगि सुभगाइज्जजसन्नयरवेयणियं ॥ २२ ॥
तसतिग पणिंदि मणुयाउगइ जिणुच्चं ति चरमसमयंता।

गाथार्थ—तेरहवे गुणस्थान मे तीर्थङ्कर नामकर्म का उदय होता है। औदारिकद्विक, अस्थिरद्विक, खगतिद्विक, प्रत्येकत्रिक, संस्थानषट्क, अगुरुलघुचतुष्क, वर्णचतुष्क, निर्माण नाम, तैजस शरीर, कार्मणशरीर, पहला संहनन, दुःस्वर नाम, सुस्वर नाम,

सातावेदनीय और असातावेदनीय में से कोई एक, कुल ३० प्रकृतियों का उदयविच्छेद तेरहवे गुणस्थान के अन्त मे हो जाने से सुभग नामकर्म, आदेय नामकर्म, यशःकीर्ति नामकर्म, वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियो मे से कोई एक, त्रसत्रिक, पचेन्द्रिय जाति, मनुष्यायु, मनुष्यगति, जिन नामकर्म और उच्चगोत्र—इन १२ प्रकृतियो का उदय चौदहवे गुणस्थान के अन्तिम समय तक होता है। इसके वाद इनका भी अन्त हो जाता है।

विशेषार्थ—ऊपर की गाथाओं मे तेरहवे—सयोगि केवली गुणस्थान और चौदहवे—अयोगि केवली गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियो की संख्या और उन-उनके अतिम समय मे व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतिये के नाम वतलाये है।

तेरहवे गुणस्थान मे ४२ प्रकृतियों का उदय रहता है। इनमें से ३० प्रकृतियों का तेरहवे गुणस्थान के अन्तिम समय मे उदयविच्छेद हो जाता है। इन व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियो मे से साता वेदनीय और असाता वेदनीय मे से कोई एक वेदनीय कर्म प्रकृति है और शेष बची २९ प्रकृतियाँ पुद्‌गलविपाकिनी (पुद्‌गल द्वारा विपाक का अनुभव कराने वाली) है। इनमें से सुस्वर नामकर्म और दु.स्वर नामकर्म यह दो प्रकृतियाँ भाषा पुद्‌गलविपाकिनी और शेष औदारिकद्विक आदि २७ प्रकृतियाँ शरीर पुद्‌गलविपाकिनी है।

पुद्‌गलविपाकिनी प्रकृतियाँ योग के सद्‌भाव रहने पर फल का अनुभव कराती हैं। इसलिए जब तक वचनयोग की प्रवृत्ति रहती है और भाषा पुद्‌गलों का ग्रहण, परिणमन होता रहता है, तब तक ही सुस्वर नाम और दु स्वर नाम कर्म का उदय सभव है और जब तक

काययोग के द्वारा पुद्गलों का ग्रहण, परिणमन और आलम्बन लिया जाता है, तब तक औदारिक आदि २७ प्रकृतियों का उदय हो सकता है लेकिन तेरहवे गुणस्थान के चरम समय में योगो का निरोध हो जाता है। अतः २९ प्रकृतियों का उदय भी उसी समय रुक जाता है।

गाथा में इन २९ प्रकृतियों में से किसी-किसी के तो स्वतन्त्र नाम दिये है और शेष प्रकृतियों को सज्ञाओं द्वारा बतलाया है। सज्ञाओं द्वारा निर्दिष्ट प्रकृतियों के नाम और उनको गर्भित करने वाली सज्ञाएँ ये है—

औदारिकद्विक—औदारिक शरीर नामकर्म, औदारिक अंगोपांग नामकर्म।

अस्थिरद्विक—अस्थिर नामकर्म, अशुभ नामकर्म।

खगतिद्विक—शुभविहायोगति नाम, अशुभविहायोगति नामकर्म।

प्रत्येकत्रिक—प्रत्येक नामकर्म, स्थिर नामकर्म, शुभ नामकर्म।

संस्थानषट्क—समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, सादि, वामन, कुब्ज और हुंड।

अगुरुलघुचतुष्क—अगुरुलघु नाम, उपघात नाम, पराघात नाम और उच्छ्वास नाम।

वर्णचतुष्क—वर्णनाम, गंधनाम, रसनाम, स्पर्श नाम।

उक्त संज्ञाओं के माध्यम से २३ प्रकृतियों के नाम वताये हैं और शेष छह प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—निर्माण नाम, तैजसशरीर नाम, कार्मण शरीर नाम, वज्रऋषभनाराच संहनन, दुःस्वरनाम और सुस्वर नाम। ये २३+६ कुल मिलाकर २९ प्रकृतियां हो जाती है।

इस प्रकार तेरहवे गुणस्थान के अन्तिम समय मे व्युच्छिन्न होने वाली ३० प्रकृतियों के नाम क्रमशः इस प्रकार समझना चाहिए—

औदारिकशरीर नाम, ओदारिक अंगोपाग नाम, अस्थिर नाम, अशुभ नाम, शुभ विहायोगति नाम, अशुभ विहायोगति नाम, प्रत्येकनाम, स्थिर नाम, शुभ नाम, समचतुरस्र सस्थान, न्यग्रोधपरिमण्डल सस्थान, सादि सस्थान, वामन सस्थान, कुब्ज सस्थान, हुण्ड सस्थान, अगुरुलघु नाम, उपघात नाम, पराघात नाम, उच्छ्वास नाम, वर्णनाम, गन्ध नाम, रस नाम, स्पर्श नाम, निर्माण नाम, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, वज्र-ऋषभनाराच सहनन, दुःस्वर नाम, सुस्वर नाम तथा साता और असाता वेदनीय में से कोई एक।[1]

इन पूर्वोक्त ३० प्रकृतियो को तेरहवे गुणस्थान मे उदययोग्य ४२ प्रकृतियों में से कम करने पर शेप रही १२ प्रकृतियों का उदय चौदहवे गुणस्थान मे रहता है। उनके नाम ये हैं—सुभग नाम, आदेय नाम, यश:कीर्ति नाम, वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियों मे से कोई एक, अर्थात् सातावेदनीय और असातावेदनीय मे से कोई एक[2], त्रसनाम, वादरनाम, पर्याप्त नाम, पंचेन्द्रिय जाति नाम, मनुष्यायु, मनुष्यगति, तीर्थङ्कर नाम और उच्चगोत्र।[3]

---

१. तुलना करो—
तदियेक्कवज्जणिमिण थिरसुहसरगदिउरालतेजदुग।
सठाण वण्णागुरुचउक्क पत्तेय जोगिम्हि ॥ —गो० कर्मकाण्ड २७१

२. चौदहवे गुणस्थान मे किसी भी जीव को वेदनीय कर्म की दोनो प्रकृतियो का एक साथ उदय नही होता है। अत जिस जीव को उन दोनो मे से जिस प्रकृति का उदय चौदहवे गुणस्थान मे रहता है उस जीव को उस प्रकृति के सिवाय दूसरी प्रकृति का उदयविच्छेद तेरहवे गुणस्थान के अन्तिम समय मे पाया जाता है।

३ तुलना करो—तदियेक्क मणुवगदी पचिदयसुभगतसतिगादेज्ज।
जसतित्थ मणुवाउ उच्चं च अंजोगिचरिमम्हि ॥ —गो क. २७२

इन १२ प्रकृतियों का उदय चौदहवे गुणस्थान के अन्तिम समय तक रहता है और इसके रुक जाते ही जीव कर्ममुक्त होकर पूर्ण सिद्ध-स्वरूप को प्राप्त कर अनन्त शाश्वत सुख के स्थान मोक्ष को चला जाता है।[1] अर्थात् जन्म-मरण रूप संसार का परिभ्रमण सदा-सदा लिए रुक जाता है और 'स्वानुभूत्या चकासते' अपने ज्ञानात्मक स्वभाव से सदैव प्रकाशमान रहता है।

साराश यह है कि तेरहवे गुणस्थान मे ४२ प्रकृतियाँ उदययोग्य है। उनमें से ३० प्रकृतियों का विच्छेद उस गुणस्थान के चरम समय मे हो जाता है। इन विच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों मे से २९ प्रकृतियाँ पुद्गलविपाकिनी हैं, अर्थात् औदारिकद्विक आदि जो २९ प्रकृतियाँ है वे काययोग और वचनयोग के माध्यम से अपना उदय कर सकती है। लेकिन तेरहवे गुणस्थान के अंत मे इन योगों का अभाव हो जाता है। अतः कारण के न रहने पर उन प्रकृतियों का भी विच्छेद हो जाता है।

उक्त ३० प्रकृतियों में वेदनीय कर्म की दोनों प्रकृतियों में से एक प्रकृति को भी ग्रहण किया गया है। इसका कारण यह है कि साता या असातावेदनीय कर्म का एक साथ उदय होना सम्भव नही है। दोनों से किसी एक का उदय रहेगा। अतः जिसका उदय उस समय हो, उसका भी विच्छेद तेरहवे गुणस्थान के चरम समय में होना

---

१. मोक्ष की असाधारण कारणभूत पुण्योदयात्मक प्रकृतियाँ प्राय. चौदहवे गुण-स्थान तक उदय मे रहती है इसलिए वहाँ तक ससारी अवस्था मानी जाती है। अनन्तर सिद्धावस्था होती है अर्थात् एक भी कर्म उदय या सत्ता में नही रहता है। सत्ता मे भी चौदहवे गुणस्थान मे प्रायः यही १२ प्रकृतियाँ मानी जाती है।

समझ लेना चाहिए। बाकी रही वेदनीय कर्म की एक प्रकृति का विच्छेद चौदहवे गुणस्थान मे होता है।

तेरहवे गुणस्थान मे उदययोग्य ४२ प्रकृतियो में से ३० प्रकृतियों का अन्त तो तेरहवे गुणस्थान मे ही हो जाता है और ४२ मे से ३० प्रकृतियों के घटने पर बाकी बची १२ प्रकृतियाँ चौदहवे गुणस्थान में अन्त होती है। जब ये प्रकृतियाँ भी नष्ट हो जाती है तो आत्मा निष्कर्म होकर अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है और अपने स्वरूप मे स्थित हो जाता ही मोक्ष प्राप्त कर लेना है।

इस प्रकार चौदह गुणस्थानों कर्म प्रकृतियों के उदय उदय-विच्छेद का कथन कर लेने के बाद गुणस्थानों मे कर्मो की उदीरणा का वर्णन करते हैं।

यद्यपि उदीरणा और उदय मे समानता है। दोनों अवस्थाओं मे यथायोग्य प्रकृतियों का विच्छेद होता है लेकिन उदीरणा मे यह विशेषण है कि अध्यवसाय विशेष से आत्मा कर्मो को उनका उदय काल प्राप्त न होने पर भी उनको उदयावलि मे लाकर वेदन कर नष्ट कर देता है। अतः किस गुणस्थान मे किन कर्म प्रकृतियो की उदीरणा होती है, आदि का कथन आगे की गाथाओं में करते है।

उदउ व्वुदीरणा परमपमत्ताईसगगुणेसु ॥२३॥
एसा पयडि—तिगूणा वेयणियाऽहारजुगल थीण तिगं।
मणुयाउ पमत्तंता अजोगि अणुदीरगो भगवं ॥२४॥

गाथार्थ—उदय के समान उदीरणा होती है, तथापि अप्रमत्तादि सात गुणस्थानों में उदय की अपेक्षा उदीरणा में कुछ विशेषता है। उदीरणा तीन प्रकृतियों की कम होती है।

वेदनीयद्विक, आहारकद्विक, स्त्यानर्द्धित्रिक और मनुष्यायु इन आठ का प्रमत्त गुणस्थान मे अन्त हो जाता है और अयोगि केवली भगवान अनुदीरक होते है, अर्थात् किसी भी कर्म की उदीरणा नही करते है।

विशेषार्थ—गाथा में उदय और उदीरणा प्रकृतियों की संख्या मे किस ;णस्थान तक समानता और किस गुणस्थान से आगे भिन्नता है, बत- ाया है और उस भिन्नता को कारण सहित स्पष्ट करते हुए चौदहवे ायोगि केवली गुणस्थान मे जैसे कर्म प्रकृतियों का उदय नही रहता ;, वैसे ही कर्मों की उदीरणा का भी अभाव होना स्पष्ट किया ाया है।

यद्यपि गुणस्थानों मे कर्म प्रकृतियो की उदीरणा उदय के समान ;, अर्थात् जिस गुणस्थान मे जितनी कर्म प्रकृतियों का उदय पहले ताया जा चुका है, उस गुणस्थान मे उतनी ही कर्म प्रकृतियो की उदीरणा भी होती है। लेकिन यह नियम पहले—मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर छठे—प्रमत्तसयत गुणस्थान तक समझना चाहिए, और आगे सातवे—अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से लेकर तेरहवे—सयोगि केवली गुणस्थान तक—इन सात गुणस्थानों में कर्म प्रकृतियों के उदय की अपेक्षा उदीरणा मे कुछ विशेषता होती है।

इस विशेषता का कारण यह है कि छठे गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियाँ ८१ बतलाई गई है और उसके अन्तिम समय में आहारक- द्विक—आहारक शरीर और आहारक अगोपाग तथा स्त्यानर्द्धित्रिक— निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि—इन ५ प्रकृतियों का विच्छेद होता है। लेकिन उक्त ५ प्रकृतियों के सिवाय वेदनीयद्विक— साता वेदनीय, असाता वेदनीय और मनुष्यायु—इन तीन प्रकृतियों

का उदीरणा-विच्छेद भी होता है। छठे गुणस्थान से आगे के गुणस्था में ऐसे अध्यवसाय नही होते है, जिससे वेदनीयद्विक और मनुष्यायु- इन तीन प्रकृतियों की उदीरणा हो सके।[1] इसीलिए सातवे से लेक तेरहवे गुणस्थान तक उदययोग्य प्रकृतियों की अपेक्षा उदीरणायो प्रकृतियो मे तीन प्रकृतियां कम मानी जाती है।

उक्त कथन का यह आशय है कि पहले से छठे गुणस्थान प्रत्येक गुणस्थान में उदय और उदीरणा योग्य प्रकृतियाँ समान है, कि सातवे गुणस्थान से तेरहवे गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान मे उ योग्य प्रकृतियों की अपेक्षा तीन-तीन प्रकृतियाँ उदीरणायोग्य होती है। अत: पहले से लेकर चौदहवे गुणस्थान तक उदय उदीरणायोग्य प्रकृतियों की संख्या निम्नप्रकार समझना चाहिए—

गुणस्थानक्रम	उदय प्रकृतिसंख्या	उदीरणा संख्या
१	११७	११७
२	१११	१११
३	१००	१००
४	१०४	१०४
५	८७	८७
६	८१	८१
७	७६	७३
८	७२	६९
९	६६	६३

---

१. सक्लिष्ट परिणामों से ही इन तीनो की उदीरणा होती है, इस का ——त्तादि गुणस्थानो मे इन तीनो की उदीरणा होना असभव है।

१०	६०	५७
११	५९	५६
१२	५७/५५	५४/५२
१३	४२	३९
१४	१२	×

वारहवे गुणस्थान की उदययोग्य ५७ प्रकृतियाँ है, जिनका उदय द्विचरम समय पर्यन्त माना जाता है। अर्थात् अन्तिम समय से पूर्व के समय पर्यन्त माना जाता और अन्तिम समय में निद्राद्विक का उदय नही रहता है, इसलिए पूर्वोक्त ५७ प्रकृतियों में से निद्राद्विक को कम करने से ५५ प्रकृतियों का उदय रहता है। इसलिए द्विचरम समय से पूर्व की ५७ प्रकृतियों में से वेदनीयद्विक और मनुष्यायु—इन तीन प्रकृतियों को कम करते हैं तो उदीरणायोग्य प्रकृतियाँ ५४ और अन्तिम समय की उदययोग्य ५५ प्रकृतियों में से उक्त तीन प्रकृतियों के कम करने पर ५२ प्रकृतियाँ उदीरणायोग्य रहती है। इसीलिए वारहवें गुणस्थान मे क्रमशः उदययोग्य ५७ और ५५ तथा उदीरणायोग्य ५४ और ५२ प्रकृतियों को बतलाया है।

कर्म प्रकृतियों की उदीरणा तेरहवे गुणस्थान पर्यन्त ही समझना चाहिए। चौदहवे—अयोगिकेवली गुणस्थान मे किसी भी कर्म की उदीरणा नही होती है।[1] इस गुणस्थान मे उदीरणा न होने का कारण यह है कि उदीरणा के होने मे योग की अपेक्षा है, परन्तु चौदहवे गुण-

---

१ तुलना करो—

णत्थित्ति अजोगिजिणे उदीरणा उदयपयडीणं।

—गो० कर्मकाण्ड २८०

स्थान मे योग का सर्वथा निरोध हो जाता है अतः इस गुणस्थान कर्मों की उदीरणा भी नही मानी जाती है।

सारांश यह है कि गुणस्थानो में पहले से लेकर छठे गुणस्थान त उदय और उदीरणायोग्य प्रकृतियो की सख्या एक समान है। लेि छठे गुणस्थान मे वेदनीयद्विक और मनुष्यायु—इन तीन प्रकृतियो उदीरणा भी हो सकती है और जिसका कारण संक्लिष्ट परिणाम और आगे के सातवे से तेरहवे गुणस्थान तक सक्लिष्ट परिणामो अभाव हो जाता है, इसलिए उदीरणा नही होती है। इस कारण सा आदि आगे के गुणस्थानो मे उदययोग्य तीन प्रकृतियों को उन-उन गु स्थानों की उदययोग्य प्रकृतियों मे से कम कर लेना चाहिए और इ जो संख्या आये वह उस गुणस्थान की उदीरणा प्रकृतियो की सं समझना चाहिए।

चौदहवे गुणस्थान में योग का निरोध हो जाने से वहां कर्मो उदीरणा नही होती है।

इस प्रकार चौदह गुणस्थानों में कर्मो की उदीरणा का कथन क अब आगे की गाथाओं में कर्मो की सत्ता का लक्षण तथा किस गु स्थान मे कितनी कर्म-प्रकृतियों की सत्ता होती है, आदि वतलाते है

सत्ता कम्माण ठिई बंधाई-लद्ध-अत्त-लाभाणं।
संते अडयालसयं जा उवसमु विजिणु बियतइए ॥२५

गाथार्थ—बधादिक के द्वारा कर्मयोग्य जिन पुद्गलो ने अपने स्वरूप को प्राप्त किया है, उन कर्मो का आत्मा के साथ लगे रहने को सत्ता कहते है। पहले से लेकर ग्यारहवे गुणस्थान तक १४८ प्रकृतियों की सत्ता पाई जाती है, किन्तु दूसरे व तीसरे

गुणस्थान मे जिन-नामकर्म के सिवाय शेष १४७ प्रकृतियों की होती है।

विशेषार्थ—गाथा मे सत्ता का लक्षण और पहले से लेकर ग्यारहवे णस्थान तक सत्ता प्रकृतियों की सख्या तथा दूसरे, तीसरे गुणस्थान तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता न होने का सकेत किया है।

'वधाइ लद्ध अत्तलाभाण' बधादिक द्वारा प्राप्त किया है त्मलाभ--आत्मस्वरूप जिनने—जिन कर्मो ने—वे बधादिक के रा स्वस्वरूप को प्राप्त हुए 'बधादि लब्धात्म-लाभानां—म्माण—कर्मणा' कर्मो की, 'ठिइ—स्थितिः' स्थिति—कर्म रमाणुओं का अवस्थान, सद्भाव, विद्यमानता सत्ता कहलाती है। हाँ 'बध आदि' शब्द मे आदि शब्द से सक्रमण आदि का ग्रहण कर वे। अर्थात् बंध के समय जो कर्म पुद्गल जिस कर्म स्वरूप मे परिणत ते है, उन कर्म पुद्गलो का उसी कर्म स्वरूप में आत्मा के साथ लगे हना यह कर्मो की सत्ता कहलाती है। इसी प्रकार उन्ही कर्म पुद्गलों ा प्रथम स्वरूप को छोडकर दूसरे कर्म स्वरूप मे बदल आत्मा मे लग्न रहना भी सत्ता कहलाती है। इनमें प्रथम प्रकार की सत्ता को ध सत्ता के नाम से और दूसरे प्रकार की सत्ता को सक्रमण सत्ता के ाम से समझना चाहिए।

आत्मा के साथ जब मिथ्यात्वादि कारणों से जो पुद्गल स्कन्ध विद्ध हो जाते है, उस समय से उनको 'कर्म' ऐसा कहने लगते है और व से आत्मा के साथ उनकी विद्यमानता—उस कर्म की सत्ता मानी ाती है। जैसे कि नरकगति का बन्ध हुआ और उदय मे आकर व तक उसकी निर्जरा न हो जाए, तव तक नरकगति नामकर्म की त्ता मानी जाती है। क्योंकि बंध द्वारा उन कर्म पुद्गलों ने नरकगति ामकर्म के रूप मे अपना आत्मस्वरूप प्राप्त किया है। अतः नरक-

गति की सत्ता मानी जाती है । इसी प्रकार यदि तिर्यचगति नामकर्म ने तिर्यचगति नामकर्म के रूप मे अपना स्वरूप प्राप्त कर लिया हो तो उसकी सत्ता मानी जाती है ।

कदाचित् नरकगति नामकर्म तिर्यचगति नामकर्म मे सक्रमित हो जाए तो नरकगति ने जो वध द्वारा स्वस्वरूप प्राप्त किया था, उसमे तिर्यचगति नामकर्म का सक्रमण होने से तिर्यचगति ने सक्रमण द्वारा अपना स्वरूप प्राप्त किया और उसकी सत्ता कायम रही । परन्तु नरकगति नामकर्म की सत्ता जो वन्ध से उत्पन्न हुई थी, उसका सक्रमण हो जाने से उसकी सत्ता व्युच्छिन्न हो गई और तिर्यचगति की सत्ता कायम रही । इसी प्रकार मिथ्यात्व की सत्ता वंध से होती है और सम्यक्त्व मोहनीय तथा मिश्र मोहनीय की सत्ता मिथ्यात्व की स्थिति और रस के अपवर्तन से नवीन ही होती है और परस्पर में संक्रमित होने से एक दूसरे की सत्ता नष्ट भी होती है ।

सत्ता के दो भेद है—सद्भाव-सत्ता और संभव-सत्ता । अमुक समय में कितनी ही प्रकृतियों की सत्ता न होने पर भी भविष्य में उनके सत्ता में होने की सभावना मानकर जो सत्ता मानी जाती है, उसे संभव सत्ता कहते है और जिन प्रकृतियों की उस समय सत्ता होती है, उसे सद्भाव (स्वरूप) सत्ता कहते हैं ।

जैसे कि नरकायु और तिर्यचायु की सत्ता वाला उपशम श्रेणि को नही मांड़ता है । फिर भी ग्यारहवे गुणस्थान में १४८ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है, तो उसका कारण यह है कि पहले यदि देवायु अथवा मनुष्यायु बाँधी हो तो उस-उस की सद्भाव सत्ता मानी जा[illegible] परन्तु उक्त नरक और तिर्यच—इन दो आयुओ की सद्भाव स[illegible] नही मानी जाएगी । परन्तु ग्यारहवे गुणस्थान से गिरकर बाद मे [illegible]

ो आयुओं को बाँधने वाला हो तो उस अपेक्षा से सत्ता मानने पर उसे संभव-सत्ता कहा जाता है।

संभव-सत्ता और सद्भाव-सत्ता मे भी पूर्व बद्धायु और अवद्धायु ऐसे दो प्रकार होते है और उनमे भी पृथक्-पृथक् अनेक जीवों की अपेक्षा सें और एक जीव की अपेक्षा से विचार किया जाता है तथा उपशमश्रेणि, क्षपकश्रेणि के आधार से भी विचार किया जाता है और इन श्रेणियों में भी अनन्तानुबधी के विसंयोजक एव अविसयोजक के आधार से भी विचार किया जाता है और इन श्रेणियों मे भी अनन्तानुबन्धी के विसयोजक एवं अविसयोजक के आश्रय से और क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यक्त्व के आश्रय से भी विचार किया जाता है।

विसयोजना करने वाले को विसयोजक कहते है।[1] दर्शन-सप्तक की सात प्रकृतियों मे से अनन्तानुबन्धी चतुष्क का क्षय हो और शेष तीन प्रकृतियो का क्षय नही हुआ हो, अर्थात् मिथ्यात्व मोहनीय कर्म सत्ता मे होने से उसका उदय हो, तब पुनः अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क का बन्ध हो तो जिस प्रकार क्षय होने पर पुन: बन्ध की सभा-वना बनी रहे, ऐसे क्षय को विसयोजना कहते है। जिसका क्षय होने पर पुनः उस प्रकृति के बन्ध की संभावना ही न रहे तो उसे क्षय कहते है।

सत्ता मे १४८ कर्म प्रकृतियाँ मानी जाती है। मूल मे कर्मो के आठ भेद है और उन-उनकी उत्तर प्रकृतियों की सख्या क्रमशः इस प्रकार है—

---

१ अनन्तानुबन्धी चतुष्क का क्षय हो, किन्तु मोहत्रिक सत्ता मे हो, उसे विसयोजना कहते है।

दो आयुओं को बाँधने वाला हो तो उस अपेक्षा से सत्ता मानने पर उसे संभव-सत्ता कहा जाता है।

सभव-सत्ता और सद्भाव-सत्ता में भी पूर्व बद्धायु और अवद्धायु ऐसे दो प्रकार होते है और उनमे भी पृथक्-पृथक् अनेक जीवो की अपेक्षा से और एक जीव की अपेक्षा से विचार किया जाता है तथा उपशमश्रेणि, क्षपकश्रेणि के आधार से भी विचार किया जाता है और इन श्रेणियों मे भी अनन्तानुबधी के विसंयोजक एव अविसयोजक के आधार से भी विचार किया जाता है और इन श्रेणियों में भी अनन्तानुबन्धी के विसयोजक एव अविसयोजक के आश्रय से और क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यक्त्व के आश्रय से भी विचार किया जाता है।

विसयोजना करने वाले को विसयोजक कहते है।[1] दर्शन-सप्तक की सात प्रकृतियों मे से अनन्तानुबन्धी चतुष्क का क्षय हो और शेष तीन प्रकृतियों का क्षय नही हुआ हो, अर्थात् मिथ्यात्व मोहनीय कर्म सत्ता मे होने से उसका उदय हो, तब पुनः अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क का बन्ध हो तो जिस प्रकार क्षय होने पर पुनः वन्ध की सभावना वनी रहे, ऐसे क्षय को विसयोजना कहते है। जिसका क्षय होने पर पुनः उस प्रकृति के वन्ध की सभावना ही न रहे तो उसे क्षय कहते है।

सत्ता मे १४८ कर्म प्रकृतियाँ मानी जाती है। मूल में कर्मो के आठ भेद है और उन-उनकी उत्तर प्रकृतियों की सख्या क्रमशः इस प्रकार है—

---

१. अनन्तानुवन्धी चतुष्क का क्षय हो, किन्तु मोहत्रिक सत्ता मे हो. उसे विसयोजना कहते है।

गति की सत्ता मानी जाती है । इसी प्रकार यदि तिर्यचगति नामकर्म ने तिर्यचगति नामकर्म के रूप में अपना स्वरूप प्राप्त कर लिया हो तो उसकी सत्ता मानी जाती है ।

कदाचित् नरकगति नामकर्म तिर्यचगति नामकर्म मे सक्रमित हो जाए तो नरकगति ने जो बंध द्वारा स्वस्वरूप प्राप्त किया था, उस तिर्यचगति नामकर्म का सक्रमण होने से तिर्यचगति ने सक्रमण द्वारा अपना स्वरूप प्राप्त किया और उसकी सत्ता कायम रही । परन्तु नरकगति नामकर्म की सत्ता जो बन्ध से उत्पन्न हुई थी, उसका सक्रमण हो जाने से उसकी सत्ता व्युच्छिन्न हो गई और तिर्यचगति की सत्ता कायम रही । इसी प्रकार मिथ्यात्व की सत्ता बध से होती और सम्यक्त्व मोहनीय तथा मिश्र मोहनीय की सत्ता मिथ्यात्व की स्थिति और रस के अपवर्तन से नवीन ही होती है और परस्पर सक्रमित होने से एक दूसरे की सत्ता नष्ट भी होती है ।

सत्ता के दो भेद है—सद्भाव-सत्ता और सभव-सत्ता । अमुक समय में कितनी ही प्रकृतियों की सत्ता न होने पर भी भविष्य में उनके सत्ता में होने की संभावना मानकर जो सत्ता मानी जाती है, उसे सभव सत्ता कहते है और जिन प्रकृतियों की उस समय सत्ता होती है उसे सद्भाव (स्वरूप) सत्ता कहते हैं ।

जैसे कि नरकायु और तिर्यचायु की सत्ता वाला उपशम श्रेणि को नही मांड़ता है । फिर भी ग्यारहवे गुणस्थान मे १४८ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है, तो उसका कारण यह है कि पहले यदि देवायु अथवा मनुष्यायु बाँधी हो तो उस-उस की सद्भाव सत्ता मानी जाएगी परन्तु उक्त नरक और तिर्यच—इन दो आयुओं की सद्भाव सत्ता नही मानी जाएगी । परन्तु ग्यारहवे गुणस्थान से गिरकर बाद मे उन

दो आयुओं को बाँधने वाला हो तो उस अपेक्षा से सत्ता मानने पर उसे संभव-सत्ता कहा जाता है।

सभव-सत्ता और सद्भाव-सत्ता मे भी पूर्व बद्धायु और अबद्धायु ऐसे दो प्रकार होते है और उनमें भी पृथक्-पृथक् अनेक जीवो की अपेक्षा सें और एक जीव की अपेक्षा से विचार किया जाता है तथा उपशमश्रेणि, क्षपकश्रेणि के आधार से भी विचार किया जाता है और इन श्रेणियों मे भी अनन्तानुबधी के विसंयोजक एव अविसयोजक के आधार से भी विचार किया जाता है और इन श्रेणियों में भी अनन्तानुबन्धी के विसयोजक एव अविसंयोजक के आश्रय से और क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यक्त्व के आश्रय से भी विचार किया जाता है।

विसयोजना करने वाले को विसंयोजक कहते है।[1] दर्शन-सप्तक की सात प्रकृतियों मे से अनन्तानुबन्धी चतुष्क का क्षय हो और शेष तीन प्रकृतियों का क्षय नही हुआ हो, अर्थात् मिथ्यात्व मोहनीय कर्म सत्ता मे होने से उसका उदय हो, तब पुनः अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क का बन्ध हो तो जिस प्रकार क्षय होने पर पुन. बन्ध की संभावना बनी रहे, ऐसे क्षय को विसयोजना कहते है। जिसका क्षय होने पर पुनः उस प्रकृति के बन्ध की संभावना ही न रहे तो उसे क्षय कहते है।

सत्ता मे १४८ कर्म प्रकृतियाँ मानी जाती है। मूल मे कर्मो के आठ भेद है और उन-उनकी उत्तर प्रकृतियों की संख्या क्रमश. इस प्रकार है—

---

१. अनन्तानुबन्धी चतुष्क का क्षय हो, किन्तु मोहत्रिक सत्ता मे हो. उसे विसयोजना कहते है।

(१) ज्ञानावरण ५, (२) दर्शनावरण ६, (३) वेदनीय २, (४) मोहनीय २८, (५) आयु ४, (६) नाम ६३, (७) गोत्र २, (८) अन्तराय ५।

इन सव भेदों ५+६+२+२८+४+६३+२+५ को मिलाने से कुल १४८ भेद हो जाते है। इसीलिए सत्ता मे १४८ प्रकृतियाँ मानी जाती है।

यद्यपि कर्मो के उदय के समय १२२ प्रकृतियाँ उदययोग्य वतला है। लेकिन सत्ता मे १४८ प्रकृतियों को कहने का कारण यह है कि उदय के प्रकरण मे पॉच बन्धनों और पॉच संघातनो की पृथक् पृथक् विवक्षा नही करके उन दोनों की पॉच-पॉच प्रकृतियो को मिलाकर दस प्रकृतियों का समावेश पॉच शरीर नामकर्म मे किया गया था। इसी प्रकार उदय के समय वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श नामकर्म की एक-एक प्रकृति विवक्षित की गई थी। परन्तु यहाँ कर्मो की सत्ता वताने के प्रकरण में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श नामकर्म की एक-एक प्रकृति के वजाय ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस और ८ स्पर्श नामकर्म गिने जाते है।

इस तरह उदययोग्य १२२ प्रकृतियो मे वधन नामकर्म के पाँच[1] और सघातन नामकर्म के पाच[2] भेद—कुल दस भेद तथा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के सामान्य चार भेदो के स्थान पर इनके पूर्वो

१ शरीर के ५ भेद है—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण। इन मे से प्रत्येक के साथ वन्धन शब्द जोडने से पाँच वन्धनो के नाम हो जाते है, जैसे—औदारिक वन्धन। इसी प्रकार दूसरे नाम समझ लेने चाहिए।

२ पूर्वोक्त पांच शरीर मे से प्रत्येक के साथ सघातन शब्द जोड देने

वीस भेदों[1] को मिलाने से कुल १४८ प्रकृतियाँ सत्तायोग्य मानी जाती हैं। इन कर्म प्रकृतियों के स्वरूप की व्याख्या पहले कर्मग्रन्थ से जाननी चाहिए।

सामान्य से सत्तायोग्य १४८ प्रकृतियाँ है और पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर ग्यारहवे उपशान्त कषाय गुणस्थान तक कुल ग्यारह गुणस्थानो मे से दूसरे सासादन और तीसरे मिश्र गुणस्थान को छोड़कर शेष नौ गुणस्थानों मे १४८ प्रकृतियों की सत्ता कही जाती है। यह कथन योग्यता की अपेक्षा समझना चाहिए। क्योंकि किसी भी जीव के एक समय मे भुज्यमान और बद्धमान इन दो आयुओं से अधिक आयु की सत्ता नही हो सकती। परन्तु योग्यता सब कर्मो की हो सकती है, जिससे बंधयोग्य सामग्री मिलने पर जो कर्म अभी वर्तमान नही है, उसका भी वन्ध और सत्ता हो सके। अर्थात् वर्तमान मे कर्म की सत्ता यानी स्वरूपसत्ता न होने पर भी उस कर्म को भविष्य मे बँधने की योग्यता की सभावना—सभव-सत्ता की अपेक्षा से १४८ प्रकृतियाँ सत्तायोग्य मानी जाती है।

सघातन के पाँच भेद होते है, जैसे—औदारिकसघातन। इसी प्रकार दूसरे नाम भी समझने चाहिए।

१. वर्ण—कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र, शुक्ल। गध—सुरभि, दुरभि। रस—तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल, मधुर। स्पर्श—कर्कश, मृदु, लघु, गुरु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष।

पूर्वोक्त बधन, सघातन और वर्णचतुष्क—ये सभी नामकर्म की प्रकृतियाँ है। अत. इनके पूरे नामो को कहने के लिए प्रत्येक के साथ 'नामकर्म' यह शब्द जोड़ लेना चाहिए।

शंका—आठ कर्मों की १५८ उत्तर प्रकृतियो मे नामकर्म की १०३ प्रकृतियाँ पहले बतलाई है और यहाँ सत्ता की १४८ प्रकृतियों मे नामकर्म की ९३ प्रकृतियो को ग्रहण किया है।

समाधान—यहाँ नामकर्म के ९३ भेद लेने का कारण यह है कि शरीर नामकर्म के समान बधन नामकर्म के भी पाँच भेद ग्रहण किये है। वैसे बधन नामकर्म के १५ भेद होते है और जब पाँच भेदो की वजाय उन १५ भेदों को ग्रहण किया जाए तो नामकर्म के १०३ भेद हो जायेगे। तब १५८ कर्म प्रकृतियाँ सत्तायोग्य मानी जायेगी।

मिथ्यात्व गुणस्थान मे तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता नही मानी जानी चाहिए। क्योकि सम्यग्दृष्टि ही तीर्थङ्कर नामकर्म का बध कर सकता है। इसलिए जब मिथ्यात्वी तीर्थङ्कर नामकर्म का वन्ध ही नही कर सकता है तो उसके तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता कैसे मानी जा सकती है? इसका उत्तर यह है कि जिसने पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में नरकायु का बन्ध कर लिया है और वाद मे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को पाकर तीर्थङ्कर नामकर्म को भी बाँध लिया है, वह जीव नरक मे जाने के समय सम्यक्त्व का त्याग कर मिथ्यात्व को अवश्य प्राप्त करता है, ऐसे जीव की अपेक्षा से ही पहले गुणस्थान मे तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता मानी जाती है। अर्थात् मनुष्य ने पूर्व मे मिथ्यात्व गुणस्थान मे नरकायु का वन्ध किया हो और वाद मे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर तीर्थङ्कर नामकर्म का वन्ध करे तो वह जीव मरते समय सम्यक्त्व का वमन कर नरक मे जाए तथा वहाँ पुन. सम्यक्त्व प्राप्त करे तो उसके पहले अन्तर्मुहूर्त तक मिथ्यात्व रहता। अत. वहाँ तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता मानी है। इसीलिए मिथ्यात्व गुणस्थान मे १४८ प्रकृतियो की सत्ता मानी जाती है।

दूसरे और तीसरे गुणस्थान में वर्तमान कोई जीव तीर्थङ्कर नामकर्म को बाँध नही सकता है। क्योंकि उन दो गुणस्थानों में शुद्ध सम्यक्त्व ही नही होता है, जिसके कारण तीर्थङ्कर नामकर्म बाँधा जा सके और इसी प्रकार तीर्थंकर नामकर्म को बाँधकर भी कोई जीव सम्यक्त्व से च्युत होकर दूसरे या तीसरे गुणस्थान को प्राप्त नही कर सकता है। इसीलिए दूसरे और तीसरे गुणस्थान मे तीर्थङ्कर नामकर्म को छोड़कर १४७ प्रकृतियों की सत्ता हो सकती है।

शंका—नरक और तिर्यचायु का बन्ध करने वाला उपशम श्रेणि करता नहीं है तथा बन्ध और उदय के बिना आयु कर्म की सत्ता होती नही तथा छठे कर्मग्रन्थ में भी आयुकर्म के भागे किये है, वहाँ ८, ९, १०, ११ गुणस्थानो मे नरक और तिर्यचायु की सत्ता नही बताई है तो फिर ग्यारहवे गुणस्थान तक १४८ प्रकृतियों की सत्ता कैसे मानी जाती है?

समाधान—यद्यपि श्रेणि मे नरक और तिर्यचायु की सत्ता घटती तो नही है। फिर भी कोई जीव उपशम श्रेणि से च्युत होकर चारों गतियो का स्पर्श कर सकता है। अत सम्भव-सत्ता की विवक्षा से यहाँ नरक और तिर्यचायु की सत्ता की सम्भावना बतलाई जाती है। दर्शनमोह सप्तक को क्षय नही करने वाले अविरत सम्यग्दृष्टि वगैरह को १४८ प्रकृतियों की सत्ता सम्भव है।

साराश यह है कि बन्धादिक के द्वारा जिन्होंने अपना स्वरूप प्राप्त किया है, ऐसे कर्मों की विद्यमानता को सत्ता कहते है। सत्ता-योग्य १४८ प्रकृतियाँ है जो उदययोग्य १२२ प्रकृतियों मे से शरीर नामकर्म मे गर्भित बन्धन और संघातन नामकर्म की पाँच-पाँच प्रकृतियो तथा वर्णचतुष्क की सामान्य चार प्रकृतियों मे वर्ण, गन्ध, रस

और स्पर्श के क्रमश. पॉच, दो, पॉच और आठ भेद मिलाने से अर्थात् सामान्य से वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श इन चार के स्थान पर उन-उन के भेदों को मिलाने से कुल १४८ प्रकृतियॉ हो जाती है। सामान्य से पहले गुणस्थान से लेकर ग्यारहवे उपशान्त मोह गुणस्थान पर्यन्त दूसरे और तीसरे गुणस्थान को छोड़कर शेष नौ गुणस्थानों मे १४८ प्रकृतियॉ सत्तायोग्य है तथा दूसरे और तीसरे गुणस्थान मे तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता न होने से १४७ प्रकृतियो की सत्ता मानी जाती है। क्योकि इन दो गुणस्थानो मे शुद्ध सम्यक्त्व न होने से तीर्थङ्कर नामकर्म का वन्ध नही होता है और जिसने तीर्थङ्कर नामकर्म बॉध लिया है, वह इन दो गुणस्थानों को प्राप्त नही करता है।

इस प्रकार सत्ता की परिभाषा और सामान्यतः तथा पहले से लेकर ग्यारहवे गुणस्थान तक सत्तायोग्य प्रकृतियों का कथन करने के वाद आगे की गाथाओं मे चतुर्थ आदि गुणस्थानों मे प्रकारान्तर से प्रकृतियो की सत्ता का वर्णन करते है।

अपुव्वाइचउक्के अण-तिरि-निरयाउ विणु बियालसयं।
सम्माइ चउसु सत्तग-खयम्मि इगचत्त-सयमहवा ॥२६॥

गाथार्थ—अपूर्वकरणादि चार गुणस्थानों मे अनन्तानुवन्धी चतुष्क और नरक व तिर्यचायु—इन छह प्रकृतियों के सिवाय १४२ प्रकृतियो, की तथा सप्तक का क्षय हुआ हो तो अविरत सम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानो मे १४१ प्रकृतियो की सत्ता होती है।

विशेषार्थ—यद्यपि पहले की गाथा मे दूसरे और तीसरे गुणस्थान को छोड़कर पहले से लेकर ग्यारहवे गुणस्थान तक सामान्य से १४८ प्रकृतियो की सत्ता बतलाई है और दूसरे तथा तीसरे गुणस्थान मे

१४७ प्रकृतियों की सत्ता कही गई है। सामान्य की अपेक्षा यह कथन ठीक भी है। लेकिन चौथे से लेकर आगे के गुणस्थानों में वर्तमान जीवों के अध्यवसाय विशुद्धतर होने से कर्म प्रकृतियों की सत्ता कम होती जाती है। इसी बात को ध्यान में रखकर चौथे आदि से लेकर आगे के गुणस्थानों में सत्ता को समझाते है।

पचसंग्रह का सिद्धान्त है कि जो जीव अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क की विसंयोजना नही करता, वह उपशम श्रेणि का प्रारम्भ नही कर सकता तथा यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि नरक की अथवा तिर्यच की आयु को बांधकर जीव उपशम श्रेणि को नही कर सकता है अर्थात् अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क का विसंयोजन करने पर तथा नरक व तिर्यच आयु का बंध न करने वाला जीव ही उपशमश्रेणि का प्रारम्भ करता है, यानी जो जीव अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क की विसंयोजना कर और देवायु को बॉधकर उपशम श्रेणि को करता है, ऐसे जीव को आठवे आदि चार गुणस्थानों में १४२ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

अनन्तानुबधी कषाय चतुष्क और दर्शनमोहनीयत्रिक---मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व—इन सात कर्म प्रकृतियों का जिन्होंने क्षय किया है, यानी जो जीव क्षायिक सम्यक्त्वी है, उनकी अपेक्षा चौथे से लेकर सातवे गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानो में १४१ प्रकृतियों की सत्ता मानी गई है।

यह १४१ प्रकृतियों की सत्ता बिना श्रेणि वाले क्षायिक सम्यक्त्वी की समझनी चाहिए तथा क्षायिक सम्यक्त्वी होने पर भी जो चरम शरीरी नही हैं, अर्थात् जो उसी शरीर से मोक्ष को नही पा सकते है, किन्तु जिनको मोक्ष के लिए जन्मान्तर लेना वाकी है, उन जीवों की

अपेक्षा से १४१ कर्म प्रकृतियो की सत्ता का पक्ष समझना चाहिए। लेकिन जो चरम शरीरी क्षायिक सम्यक्त्वी है, उनको मनुष्य आयु के अतिरिक्त दूसरी आयु की न तो स्वरूप-सत्ता है और न संभवसत्ता ही है।

साराश यह है कि श्रेणि नही मांड़ने वाले क्षायिक सम्यक्त्वी जीवो के चौथे से लेकर सातवे गुणस्थान तक चार गुणस्थानो मे सामान्य से १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती है, यह कथन अनेक जीवो की अपेक्षा से है तथा क्षायिक सम्यक्त्वी होने पर भी जो चरम शरीरी नही है अर्थात् जो उसी शरीर से मोक्ष को प्राप्त करने वाले नही ऐसे अनेक जीवों की अपेक्षा से भी १४१ प्रकृतियो की सत्ता उक्त चौथे से सातवे गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानों मे मानी गई है।

उपशम श्रेणि आठवे से लेकर ग्यारहवे गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानो तक मानी जाती है। अर्थात् यह चार गुणस्थान उपशम श्रेणि के होते है और उपशम श्रेणि अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क का विसयोजन करने से तथा नरक और तिर्यच आयु को नही बाँधने वाले यानी सिर्फ देवायु का वन्ध करने वाले को होती है। अत: सामान्य से सत्तायोग्य १४८ प्रकृतियो मे से अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क और नरक व तिर्यचायु कुल छह प्रकृतियो को कम करने पर १४२ प्रकृतियों की सत्ता उपशम श्रेणि मांडने वाले जीवो को आठवे से लेकर ग्यारहवे गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानों मे मानी जाती है।

इस प्रकार चौथे से लेकर उपशम श्रेणि के गुणस्थानो पर्यन्त सामान्य से सत्ता प्रकृतियो का वर्णन करके अव क्षपक श्रेणि की अपेक्षा कर्मो की सत्ता का कथन आगे की गाथा में करते है।

खवगं तु पप्प चउसु वि पणयालं नरयतिरिसुराउ विणा ।
सत्तग विणु अडतीसं जा अनियट्टी पढमभागो ॥ २७ ॥

गाथार्थ—क्षपक जीवों की अपेक्षा से चार गुणस्थानों मे नरक, तिर्यंच और देवायु—इन तीन प्रकृतियों के सिवाय १४५ प्रकृतियो की तथा सप्तक के बिना १३८ प्रकृतियों की सत्ता अनिवृत्ति गुणस्थान के पहले समय तक होती है ।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा मे उपशम श्रेणि की अपेक्षा से कर्म प्रकृतियों की सत्ता वतलाई गई है । अव इस गाथा मे क्षपक श्रेणि की अपेक्षा से कर्म प्रकृतियो की सत्ता बतलाते है और यह सत्ता नौवे—अनिवृत्ति वादर सपराय गुणस्थान तक समझना चाहिए ।

जो जीव वर्तमान जन्म में क्षपक श्रेणि को माडने वाले है और चरम शरीरी है, अर्थात् अभी तो जो औपशमिक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी भी है, लेकिन क्षपक श्रेणि को अवश्य ही मांड़ने वाले तथा क्षपक श्रेणि कर इसी जन्म मे मोक्ष पाने वाले है, उनको मनुष्यायु की ही सत्ता रहती है । अन्य तीन आयुओं की सत्ता नही रहती है और न उनकी सम्भव-सत्ता भी है । इसलिए इस प्रकार के क्षपक जीवों की अपेक्षा चौथे से लेकर सातवे गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानों में नरकायु, तिर्यचायु और देवायु को सत्तायोग्य १४८ प्रकृतियों में से कम करने पर १४५ कर्म प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है ।

लेकिन जो क्षायिक सम्यक्त्वी है और चरम शरीरी है । इसी जन्म में ही मोक्ष जाने वाले है । अर्थात् अनन्तानुवन्धीचतुष्क और दर्शन-मोहत्रिक का क्षय करने से जिन्हे क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त है और इस भव के वाद दूसरा भव नही करना है, ऐसे जीव चौथे गुणस्थान से ही क्षायिक सम्यक्त्वी होकर क्षायिक श्रेणि करते है तो उन जीवों

की अपेक्षा से अनन्तानुबन्धीचतुष्क और दर्शनमोहत्रिक इन सात प्रकृतियों का क्षय होने से तथा वर्तमान मनुष्यायु के सिवाय शेष तीन आयु—नरकायु, तिर्यचायु और देवायु की भी सत्ता न होने से सत्तायोग्य १४८ प्रकृतियों मे से उक्त दस प्रकृतियों को कम करने से १३८ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है। यह १३८ प्रकृतियों की सत्ता चौथे गुणस्थान से लेकर नौवे गुणस्थान के प्रथम भाग पर्यन्त समझना चाहिए।

परन्तु जो जीव वर्तमान जन्म मे क्षपक श्रेणि नही कर सकते, अर्थात् अचरम शरीरी है, उनमें से कुछ क्षायिक सम्यक्त्वी भी, कुछ औपशमिक सम्यक्त्वी और कुछ क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी भी होते है। पच्चीसवी गाथा मे जो १४८ प्रकृतियों की सत्ता कही गई है, सो क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी तथा औपशमिक सम्यक्त्वी अचरमशरीरी की अपेक्षा से समझना चाहिए तथा छब्बीसवी गाथा मे जो १४१ प्रकृतियों की सत्ता कही है, वह क्षायिक सम्यक्त्वी अचरमशरीरी की अपेक्षा से समझना चाहिए। क्योंकि किसी भी अचरमशरीरी जीव को यद्यपि एक साथ सब आयुओं की सत्ता नही होती है, लेकिन उनकी सत्ता होना सम्भव रहता है, इसलिए उसको सव आयुओ की सत्ता मानी जाती है।

साराश यह है कि सामान्य मे १४८ प्रकृतियाँ सत्तायोग्य है और दूसरे और तीसरे गुणस्थान मे तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता न होने से १४७ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है, लेकिन पहले और चौथे से लेकर ग्यारहवे गुणस्थान तक जो १४८ प्रकृतियों की सत्ता कही गई है, वह सम्भव-सत्ता की अपेक्षा से मानी जाती है। क्योकि उपशम श्रेणि माड़ने वाले के ग्यारहवे गुणस्थान से गिरने की सम्भावना रहती है और जिस क्रम मे गुणस्थानों का आरोहण किया था, उसी क्रम मे

गिरते समय उन-उन गुणस्थानों को स्पर्श करते हुए पहले मिथ्यात्व गुणस्थान को भी प्राप्त कर सकता है। इसीलिए वर्तमान में चाहे गुणस्थान के अनुसार कर्म-प्रकृतियों की सत्ता हो, लेकिन शेष प्रकृतियों की सत्ता होने की सम्भावना से १४८ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है।

लेकिन चौथे गुणस्थान का नाम अविरत सम्यग्दृष्टि है। अर्थात् जो व्रतादि नही लेते हुए भी सम्यक् श्रद्धा वाले है, वे अविरत सम्यग्दृष्टि कहलाते है। वे सम्यग्दृष्टि तीन प्रकार के होते है—उपशम सम्यग्दृष्टि, क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि।

जो सम्यक्त्व की बाधक मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशम करके सम्यक् दृष्टि वाले हैं, उन्हें उपशम सम्यग्दृष्टि तथा मोहनीय कर्म की प्रकृतियों में से क्षययोग्य प्रकृतियों का क्षय और शेष रही हुई प्रकृतियों का उपशम करने से जो सम्यक्त्व प्राप्त होता है और उस प्रकार के सम्यग्दृष्टि वाले जीवों को क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि कहते हैं। जिन्होंने सम्यक्त्व की बाधक मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का पूर्णतया क्षय करके सम्यक्त्व प्राप्त किया है, वे क्षायिक सम्यग्दृष्टि कहलाते है।

उक्त तीनों प्रकार के सम्यग्दृष्टि जीवों में से उपशम और क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी तो उपशमश्रेणि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि क्षपक श्रेणि को मांडते है। जो जीव क्षपक श्रेणि मांड़ने वाले है, वे तो सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके आत्मस्वरूप में लीन हो मोक्ष प्राप्त कर लेते है। लेकिन उपशम श्रेणि वाले जीवों को यह सम्भव नही है, इसीलिए उनका पतन होना सम्भव है। श्रेणि का क्रम आठवें गुणस्थान मे शुरू होता है।

लेकिन जिन जीवों ने अभी कोई श्रेणि नही मांडी है और अभी चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान मे वर्तमान है, ऐसे जीव यदि क्षायिक सम्यक्त्वी है और इसी भव से मोक्ष प्राप्त करने वाले नही है तो अनन्तानुबन्धी चतुष्क और दर्शनमोहत्रिक—कुल सात प्रकृतियो का क्षय होने से चौथे से लेकर सातवे गुणस्थान पर्यन्त उनके १४१ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है। क्योंकि किसी भी अचरम शरीरी जीव को एक साथ सब आयुओं की सत्ता न होने पर भी उनकी सत्ता होने का सभव रहता है, इसीलिए उनको सव आयुओं की सत्ता मानी जाती है। इस लिए चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानों मे क्षायिक सम्यक्त्वी जीव को १४१ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है।

जो जीव वर्तमान काल में ही क्षपकश्रेणि कर सकते है और चरम शरीरी है, अर्थात् इसी भव मे मोक्ष प्राप्त करने वाले है लेकिन अभी अनन्तानुवन्धी चतुष्क और दर्शनमोहत्रिक का क्षय नही किया है उन जीवों की अपेक्षा १४५ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है। क्योंकि चरम शरीरी होने से उनके मनुष्यायु के सिवाय शेष तीन आयुओं की सत्ता नही मानी जा सकती है और जिन्होंने उक्त अनन्तानुवन्धी चतुष्क आदि सात प्रकृतियों का क्षय कर दिया है, उन जीवों के १३८ प्रकृतियो की सत्ता होती है और यह सत्ता नौवे गुणस्थान के प्रथम भाग तक पाई जाती है।

लेकिन जो जीव वर्तमान जन्म मे क्षपकश्रेणि नही कर सकते यानी अचरम शरीरी है, उनमे से कुछ क्षायिक सम्यक्त्वी भी होते हैं और कुछ औपशमिक सम्यक्त्वी तथा कुछ क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी भी होते है। उनमे से क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यक्त्वी

अचरम शरीरी जीवों की अपेक्षा १४८ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है ।

इन १४८ प्रकृतियों में से जो जीव उपशम श्रेणि को प्रारम्भ करने वाले है और उपशम श्रेणि प्रारम्भ करने के लिए यह सिद्धान्त है कि जो अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क का विसयोजन करता है तथा नरक व तिर्यंच आयु का जिसे बंध न हो वह उपशम श्रेणि प्रारम्भ कर सकता है, तो इस सिद्धान्त के अनुसार आठवे से लेकर ग्यारहवे गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानों मे अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क तथा नरकायु और तिर्यचायु—इन छह प्रकृतियों के सिवाय १४२ प्रकृतियों की सत्ता होती है ।

सक्षेप में यों कह सकते है कि सामान्य से चौथे से लेकर ग्यारहवे गुणस्थान पर्यन्त १४८ प्रकृतियों की सत्ता होती है । लेकिन चौथे गुण-स्थानवर्ती—अविरत सम्यग्दृष्टि जीव औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यग्दृष्टि के प्रकार से तीन प्रकार के होते है । इन तीनो में से जो अचरम शरीरी है और क्षपक श्रेणि नही कर सकते, उनको १४८ प्रकृतियों की सत्ता है । लेकिन जो देवायु का वन्ध कर उपशम श्रेणि को करते है, उनकी अपेक्षा १४२ प्रकृतियो की सत्ता होती है ।

चौथे से लेकर सातवे पर्यन्त चार गुणस्थानों मे वर्तमान जो जीव क्षायिक सम्यक्त्वी है, अर्थात् अनन्तानुवन्धी चतुष्क और दर्शनमोह-त्रिक—इन सात प्रकृतियों का क्षय किया है, उनकी अपेक्षा से उक्त चार गुणस्थानों में १४१ प्रकृतियो की सत्ता मानी जाती है । यह १४१ प्रकृतियों की सत्ता अचरम शरीरी जीवों की अपेक्षा समझना चाहिए ।

लेकिन जो जीव वर्तमान जन्म मे ही क्षपक श्रेणि कर सकते है, किन्तु अभी श्रेणि प्रारंभ नही की है, उनकी अपेक्षा वर्तमान आयु के

सिवाय शेष तीन आयु न होने पर १४५ प्रकृतियों की तथा अनन्तानुबंधी चतुष्क और दर्शनमोहत्रिक कुल सात प्रकृतियों का भी क्षय होने से तीन आयु और अनन्तानुबन्धी आदि सात कुल दस प्रकृतियो के क्षय होने से उनके १३८ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है। यह १३ प्रकृतियों की सत्ता क्षपक श्रेणि आरोहण के समय मे नौवे—अनिवृत्ति वादर सपराय गुणस्थान के पहले भाग तक समझना चाहिए।

इस प्रकार मोक्ष की कारणीभूत क्षपक श्रेणि वाले जीवो के नौ गुणस्थान के प्रथम भाग पर्यन्त कर्मों की सत्ता बतलाई जा चुकी है नौवे गुणस्थान के नौ भाग होते है। अत आगे की दो गाथाओ में न गुणस्थान के दूसरे से नौवे भाग पर्यन्त आठ भागों मे प्रकृतियों सत्ता को बतलाते है।

थावरतिरिनिरयायव-दुग थीणतिगेग विगल साहारं।
सोलखओ दुवीससयं बियंसि बियतियकसायंतो ॥२८
तइयाइसु चउदसतेरबारछपणचउतिहिय सय कमसो।
नपुइत्थिहासछगपुंसतुरियकोहमयमायखओ ॥ २९

गाथार्थ—स्थावरद्विक, तिर्यचद्विक, नरकद्विक, आतपद्विक, स्त्यानर्द्धित्रिक, एकेन्द्रियजाति, विकलेन्द्रियजाति त्रिक और साधारण नामकर्म इन सोलह प्रकृतियों का नौवे गुणस्थान के प्रथम भाग के अन्तिम समय मे क्षय हो जाने से दूसरे भाग मे एकसौ वाईस प्रकृतियों की सत्ता रहती है। इन एक सौ वाईस प्रकृतियो मे से अप्रत्याख्यानावरण कपाय चतुष्क और प्रत्याख्यानावरण कपाय चतुष्क कुल आठ प्रकृतियो की सत्ता का क्षय दूसरे भाग के अन्तिम समय में

हो जाने से तीसरे भाग में एक सौ चौदह प्रकृतियों की सत्ता रहती है। इसके बाद तीसरे से नौवे भाग तक क्रमशः नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, हास्यादिषट्क, पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, मान और माया का क्षय होने से एकसौ तेरह, बारह, छह, पाँच, चार और तीन प्रकृतियों की सत्ता रहती है।

विशेषार्थ—नौवे गुणस्थान के नौ भाग होते है और इन नौ भागो मे से पहले भाग में क्षपक श्रेणि की अपेक्षा से १३८ प्रकृतियो की सत्ता होने का कथन पहले की गाथा मे हो चुका है। इन गाथाओं मे उक्त गुणस्थान के शेष रहे दूसरे से नौवे भाग पर्यन्त कुल आठ भागों मे क्रमशः क्षय होने वाली प्रकृतियों के नाम तथा सत्ता में रहने वाली प्रकृतियों की संख्या बतलाई गई है।

प्रथम भाग मे जो १३८ प्रकृतियों की सत्ता कही गई है, उनमें से स्थावरद्विक—स्थावर और सूक्ष्म नामकर्म, तिर्यंचद्विक—तिर्यंच गति, तिर्यंचानुपूर्वी, नरकद्विक—नरकगति नरकानुपूर्वी, आतपद्विक—आतप नाम और उद्योत नामकर्म, स्त्यानर्द्धित्रिक—निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि, एकेन्द्रिय जाति नाम, विकलेन्द्रिय त्रिक—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति नाम तथा साधारणनाम कर्म—इन सोलह प्रकृतियो का क्षय प्रथम भाग के अन्तिम समय मे हो जाने पर प्रथम भाग मे विद्यमान १३८ प्रकृतियों मे से उक्त सोलह प्रकृतियो को कम करने से दूसरे भाग मे १२२ प्रकृतियों की सत्ता रहती है।

दूसरे भाग की इन १२२ प्रकृतियों की सत्ता में से अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क—प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान,

माया, लोभ—इन आठ प्रकृतियो की सत्ता दूसरे भाग के अन्तिम समय मे क्षय हो जाने से तीसरे भाग मे ११४ प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है और उसके बाद तीसरे भाग के अन्तिम समय में नपुसकवेद का क्षय होने से चौथे भाग में ११३ प्रकृतियों की सत्ता रहती है। चौथे भाग मे सत्तायोग्य ११३ प्रकृतियों मे से स्त्रीवेद का क्षय चौथे भाग के अन्तिम समय में होने से ११२ प्रकृतियो की सत्ता पाँचवे भाग मे होती है तथा पाँचवे भाग के अन्त मे हास्यषट्क—हास्य, रति, अरति, शोक, भय जुगुप्सा—का क्षय होने से पाँचवे भाग की ११२ प्रकृतियो मे से इ छह प्रकृतियों को कम करने से छठे भाग में १०६ प्रकृतियो की सत रहती है।

छठे भाग मे सत्ता योग्य १०६ प्रकृतियों मे से उसके अंतिम सम मे पुरुषवेद का अभाव होने से सातवे भाग में १०५ प्रकृतियाँ सत्ता योग्य रहती है। सातवे भाग मे जो १०५ प्रकृतियाँ सत्तायोग्य वतल है, उनमे से सज्वलन क्रोध का सातवे भाग के अन्तिम समय मे क्ष हो जाता है। अतः आठवे भाग में १०४ प्रकृतियो की सत्ता त आठवे भाग की सत्तायोग्य १०४ प्रकृतियो मे से आठवे भाग अन्तिम समय मे सज्वलन मान का क्षय हो जाने से नौवे भाग मे १ प्रकृतियो की सत्ता रहती है।

इस प्रकार नौवे गुणस्थान के अन्तिम भाग—नौवे भाग मे १०३ प्रकृतियो की सत्ता रहती है और इस अन्तिम भाग—नौवे भाग के अन्तिम समय मे सज्वलन माया का भी क्षय हो जाता है। माया के क्षय होने से शेष रही हुई १०२ प्रकृतियाँ दसवे गुणस्थान मे सत्ता-योग्य रहती है। इसका कथन आगे की गाथा मे किया जाएगा।

यह एक साधारण नियम है कि कारण के अभाव मे कार्य का भी सद्भाव नही रहता है। अतः पहले के गुणस्थानो मे जिन कर्म प्रकृतियाँ

का क्षय हुआ, उनके वन्ध, उदय और सत्ता के प्राय. प्रमुख कारण मिथ्यात्व, अविरति और कषाय है। पूर्व-पूर्व के गुणस्थानों की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के गुणस्थानों में मिथ्यात्व आदि कारणो का अभाव होता जाता है। अर्थात् पहले की अपेक्षा दूसरे में, दूसरे की अपेक्षा तीसरे आदि मे मिथ्यात्वादि कारण एक के बाद दूसरे कम हो जाते है और अध्यवसायो की शुद्धि होने से जीव आगे–आगे के गुणस्थानो को प्राप्त करता जाता है। अत: जव ये मिथ्यात्वादि कारण नही रहे तो उनके सद्भाव में बन्ध, उदय औरसत्ता रूप में रहने वाले कर्म भी नही रह पाते है और नष्ट हो जाते है।

सारांश यह है कि नौवें गुणस्थान मे क्षपक श्रेणि की अपेक्षा १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती। नौवे गुणस्थान के समय के नौ भाग होते है। इन नौ भागों के पहले भाग मे तो १३८ प्रकृतियों की सत्ता है और पहले भाग के अन्तिम समय में सोलह प्रकृतियों का क्षय होने से १२२ प्रकृतियों की और उसके वाद दूसरे–तीसरे आदि भागों के अन्तिम समय मे क्रमश· आठ, एक, एक, छह, एक, एक, एक, प्रकृतियों का क्षय होने से नौवे भाग मे १०३ प्रकृतियाँ सत्ता मे रहती है।

अन्तिम भाग की इन सत्ता योग्य १०३ प्रकृतियों में से संज्वलन माया का क्षय होने से दसवे गुणस्थान की सत्तायोग्य प्रकृतियो की सख्या १०२ हो जाती है।

इस प्रकार नौवे गुणस्थान में सत्ता प्रकृतियों का कथन करने के पश्चात आगे की गाथा मे दसवे और वारहवे गुणस्थान की सत्ता प्रकृतियों की सख्या और उन—उन के अत में क्षय होने वाली प्रकृतियो के नाम वतलाते है।

सुहुमि दुसय लोहन्तो खीणदुचरिमेगसय दुनिद्दखओ।
नवनवइ चरमसमए चउदंसणनाणविग्घन्तो ॥ ३० ॥

गाथार्थ— (नौवे गुणस्थान के अन्त मे संज्वलन माया का क्षय होने से) सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान मे १०२ प्रकृतियो की सत्ता रहती है तथा इसी गुणस्थान के अन्त मे सज्वलन लोभ का क्षय होने से क्षीणमोह गुणस्थान के द्विचरम समय तक १०१ प्रकृतियो की और निद्राद्विक का क्षय होने से अंतिम समय मे ९९ प्रकृतियों की सत्ता रहती है और अन्तिम समय मे दर्शना-वरणचतुष्क तथा ज्ञानावरणपचक, अतरायपंचक का भी क्षय हो जाता है।

विशेषार्थ—नौवे गुणस्थान के वाद क्रमप्राप्त दसवे —सूक्ष्म सपरा गुणस्थान मे सत्ता प्रकृतियों की संख्या और उसके अन्तिम समय मे क्ष होने वाली प्रकृति का नाम और बारहवे-क्षीणकषाय-गुणस्थान व सत्ता प्रकृतियों की सख्या और उसके अन्तिम समय मे नष्ट हो वाली प्रकृतियों के नाम इस गाथा में बतलाये है।

गाथा मे दसवे गुणस्थान के वाद ग्यारहवे गुणस्थान मे प्रकृति की सत्ता आदि का कथन करना चाहिए था। लेकिन यहाँ क्षपक श्रे की अपेक्षा वर्णन किया गया है और क्षपक श्रेणि माडने वाला दस गुणस्थान से सीधा वारहवे गुणस्थान को प्राप्त करता है। अतः दस के वाद वारहवे गुणस्थान मे कर्मप्रकृतियों की सत्ता आदि का कथ किया गया है। उपशम श्रेणि मांड़ने वाला ग्यारहवे गुणस्थान तक प चता है और उसके वाद कर्मों का पूर्ण रूप से क्षय न होकर सत्ता विद्यमान रहने से गिरते-गिरते पहले मिथ्यात्व गुणस्थान तक को प्राप्त कर ससार चक्र मे घूमता रहता है। लेकिन मोक्ष कर्मों के क्षय होने पर प्राप्त होता है और कर्मों का क्षय क्षपक श्रेणि माड़ने वाला ही कर सकता है। इसीलिए दसवे के वाद वारहवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है और जिसने वारहवाँ गुणस्थान प्राप्त कर लिया, वह निश्चय ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

दसवे गुणस्थान मे १०२ प्रकृतियों की सत्ता रहती है। क्योंकि नौवे गुणस्थान के अन्तिम समय मे १०३ प्रकृतियों की सत्ता रहती है और इन १०३ प्रकृतियों में से सज्वलन माया का अन्त होने से दसवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है। अतः नौवे गुणस्थान की सत्तायोग्य १०३ प्रकृतियों में से एक संज्वलन माया कर्मप्रकृति को घटाने से १०२ प्रकृतियां दसवे गुणस्थान मे सत्तायोग्य रहती है।

इन सत्तायोग्य १०२ प्रकृतियों मे से दसवे गुणस्थान के अन्तिम समय मे सज्वलन लोभ कषाय का क्षय हो जाने से बारहवे गुणस्थान मे १०१ प्रकृतियो की सत्ता रहती है। लेकिन यह १०१ प्रकृतियों की सत्ता इस गुणस्थान के द्विचरम समय पर्यन्त— अन्तिम समय से पहले समय तक ही समझना चाहिए। इन १०१ प्रकृतियों मे से निद्राद्विक—निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों का क्षय हो जाने से अन्तिम समय मे ९९ प्रकृतियों की सत्ता रहती है। अर्थात् वारहवे गुणस्थान के द्विचरम समय तक १०१ प्रकृतियो की और अन्तिम समय मे ९९ प्रकृतियों की सत्ता रहती है।

वारहवे गुणस्थान की सत्तायोग्य प्रकृतियों मे मोहनीय कर्म से बँधने वाली, उदय होने वाली और सत्ता मे रहने वाली कर्म प्रकृतिया नही रहती है। अर्थात् मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाता है। मोहनीय कर्म के कारण ही ज्ञानावरण, अन्तराय की पाँच-पाँच तथा दर्शनावरण की चक्षुदर्शनावरण आदि चार प्रकृतियाँ कुल १४ प्रकृतियों के वन्ध, उदय और सत्ता की सभावना रहती है। लेकिन मोहनीय कर्म की प्रकृतियो का क्षय हो जाने से उक्त १४ प्रकृतियों का भी वन्ध, उदय, सत्ता रूप मे अस्तित्व नही रह सकता है। इसलिए वारहवे गुणस्थान के अन्तिम समय मे दर्शनावरणचतुष्क—चक्षु, अचक्षु, अवधि,

केवल दर्शनावरण, ज्ञानावरणपचक—मति, श्रुत, अवधि, मन-पर्याय और केवल ज्ञानावरण तथा अन्तरायपचक—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य-अन्तराय, कुल १४ प्रकृतियो का क्षय हो जाता है।

प्रतिवन्धक कारणो—कर्मों के नाश हो जाने से सहज चेतना के निरावरण होने पर आत्मा का स्व-स्वरूप केवल-उपयोग का आवि-र्भाव होता है। केवल-उपयोग का मतलव है सामान्य और विशेप—दोनों प्रकार का सम्पूर्ण बोध।[1] इस केवल उपयोग के प्रतिबन्धक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय—ये चार कर्म है इनमे मोहनीय कर्म मुख्य है। मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने के बाद ही बाकी के दर्शनावरण, ज्ञानावरण और अन्तराय इन तीन कर्मों का क्षय होता है। इनके नष्ट होने पर कैवल्य की प्राप्ति होती है।[2] अत पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर वारहवे—क्षीणमोह गुणस्थान पर्यन्त सर्वप्रथम मोहनीय कर्म की अविनाभावी कर्म प्रकृतियो के उदय और सत्ता का विच्छेद वतलाकर अन्तिम समय मे चार दर्शनावरण, पाँच ज्ञानावरण और पॉच अन्तराय की सत्ता का विच्छेद होना वताया है। इसी प्रकार वारहवे गुणस्थान के अन्तिम समय मे उदय-विच्छिन्न होने वाली प्रकृतियो में भी उक्त १४ प्रकृतियॉ है।

इस प्रकार वारहवे गुणस्थान के अन्तिम समय मे सत्तायोग्य ६६ प्रकृतियो मे दर्शनावरण आदि की १४ प्रकृतियो के क्षय हो जाने से तेरहवॉ गुणस्थान प्राप्त होता है।

---

१ सामान्य उपयोग—केवलदर्शन, विशेप उपयोग—केवलज्ञान।

२. मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।

—तत्त्वार्थसूत्र १०।१

सारांश यह है कि दसवें गुणस्थान की सत्तायोग्य १०२ प्रकृतियों मे से सज्वलन लोभ का क्षय उसके अन्तिम समय में हो जाने से वारहवे गुणस्थान मे द्विचरम समय पर्यन्त १०१ प्रकृतियों की तथा इन १०१ प्रकृतियो मे से निद्राद्विक का क्षय होने से ९९ प्रकृतियों की सत्ता रहती है। इन ९९ प्रकृतियों मे से दर्शनावरण, ज्ञानावरण, अन्तराय सम्बन्धी १४ प्रकृतियों का क्षय बारहवे गुणस्थान के अन्तिम समय मे हो जाता है।

दसवे और वारहवे गुणस्थान की सत्ता प्रकृतियों की संख्या और उनके अन्त में क्षय होने वाली प्रकृतियों के नाम बतलाकर अब आगे की गाथाओं मे तेरहवें, चौदहवे गुणस्थान की सत्ता प्रकृतियो की सख्या और क्षय होने वाली प्रकृतियों नाम बतलाते है।

पणसीइ सजोगि अजोगि दुचरिमे देवखगइगंधदुगं।
फासट्ठ वन्नरसतणुबंधणसंघायण निमिणं ॥३१॥

संघयणअथिरसंठाण-छक्क अगुरुलहुचउ अपज्जत्तं।
सायं व असायं वा परित्तुवंगतिग सुसर नियं ॥३२॥

बिसयरिखओ य चरिमे तेरस मणुयतसतिग-जसाइज्जं।
सुभगजिणुच्च पणिंदिय सायासाएगयरछेओ ॥३३॥

गाथार्थ—सयोगि और अयोगि गुणस्थान के द्विचरम समय तक ८५ प्रकृतियों की सत्ता रहती है। उसके वाद देवद्विक, विहायोगतिद्विक, गंधद्विक, आठ स्पर्श, वर्ण, रस, शरीर, बन्धन और सघातन की पॉच-पॉच, निर्माण नाम, सहनन-षट्क, अस्थिर षट्क, सस्थान षट्क, अगुरुलघु चतुष्क, अपर्याप्त नाम, साता अथवा असातावेदनीय, प्रत्येक व उपाग

की तीन-तीन, सुस्वर और नीचगोत्र इन ७२ प्रकृतियो का क्षय चौदहवे गुणस्थान के द्विचरम समय मे हो जाने से अन्तिम समय मे मनुष्यत्रिक, त्रसत्रिक, यशःकीर्तिनाम, आदेय नाम, सुभगनाम, जिननाम, पचेन्द्रिय जातिनाम तथा साता अथवा असाता वेदनीय इन १३ प्रकृतियों की सत्ता रहती है। इन १३ प्रकृतियों की सत्ता भी चौदहवे गुणस्थान के अन्तिम समय में क्षय हो जाने से आत्मा निष्कर्मा होकर मुक्त वन जाती है।

विशेषार्थ—उक्त तीन गाथाओं मे तेरहवे और चौदहवे गुणस्था मे सत्तायोग्य प्रकृतियों की संख्या और क्षय होने वाली प्रकृतियों के नाम संज्ञाओं आदि के द्वारा बतलाये गये है।

वारहवे गुणस्थान की सत्तायोग्य ९९ प्रकृतियो मे से दर्शनावर आदि की १४ प्रकृतियों का क्षय हो जाने से ८५ प्रकृतियाँ तेरह गुणस्थान मे सत्तायोग्य रहती है। ये ८५ प्रकृतियाँ तेरहवे गुणस्था के अतिरिक्त चौदहवे गुणस्थान के द्विचरम समय (अन्तिम समय पहले) तक रहती है। इनमे से ७२ प्रकृतियाँ भी चौदहवे गुणस्थान द्विचरम समय मे क्षय हो जाने से अन्तिम समय मे १३ प्रकृतियाँ ही सत्तायोग्य रहती है। उनका भी क्षय अन्तिम समय मे हो जाने से आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेती है।

तेरहवे और चौदहवे गुणस्थान की ८५ प्रकृतियाँ योगनिमित्तक वन्ध, उदय और सत्ता वाली है। वारहवे गुणस्थान तक मिथ्यात्व, अविरत, कषाय के निमित्त से बँधने वाली प्रकृतियो का क्षय हो जाता है। सिर्फ योग के कारण जिनकी सत्ता रहती है, वे तेरहवे और चौदहवे गुणस्थान मे नष्ट होती है। इसीलिए तेरहवे गुणस्थान को

सयोगि केवली और चौदहवें गुणस्थान को अयोगि केवली कहते है। इन योगनिमित्तक प्रकृतियों में अधिकतर काययोग से सम्बन्ध रखने वाली है और योगों का निरोध हो जाने से चौदहवे गुणस्थान के द्विचरम समय में कुछ जीवविपाकी कुछ क्षेत्रविपाकी प्रकृतियों के साथ मुख्य रूप से पुद्गलविपाकी प्रकृतियों की सत्ता का नाश हो जाता है। क्षय होने वाली प्रकृतियों के नाम ये है—

(१) देवगति, (२) देवानुपूर्वी, (३) शुभ विहायोगति, (४) अशुभ विहायोगति, (५) सुरभि गंधनाम, (६) दुरभि गधनाम, (७) कर्कश स्पर्शनाम, (८) मृदु स्पर्शनाम, (९) लघु स्पर्शनाम, (१०) गुरु स्पर्शनाम, (११) शीत स्पर्शनाम, (१२) उष्ण स्पर्शनाम, (१३) स्निग्ध स्पर्शनाम, (१४) रूक्ष स्पर्शनाम, (१५) कृष्ण वर्णनाम, (१६) नील वर्णनाम, (१७) लोहित वर्णनाम, (१८) हारिद्र वर्णनाम, (१९) शुक्ल वर्णनाम, (२०) कटुक रसनाम, (२१) तिक्त रसनाम, (२२) कषाय रसनाम, (२३) अम्ल रसनाम, (२४) मधुर रसनाम, (२५) औदारिक, (२६) वैक्रिय, (२७) आहारक, (२८) तैजस, (२९) कार्मण शरीरनाम, (३०) औदारिक बन्धन, (३१) वैक्रिय बन्धन, (३२) आहारक बन्धन, (३३) तैजस बन्धन, (३४) कार्मण बन्धन, (३५) औदारिक सघातन, (३६) वैक्रिय सघातन, (३७) आहारक संघातन, (३८) तैजस संघातन, (३९) कार्मण सघातन, (४०) निर्माण नाम, (४१) वज्रऋषभनाराच संहनन (४२) ऋषभनाराच संहनन, (४३) नाराच संहनन, (४४) अर्धनाराच संहनन, (४५) कीलिका संहनन, (४६) सेवार्त सहनन, (४७) अस्थिर नाम, (४८) अशुभ नाम, (४९) दुर्भग नाम, (५०) दुस्वर नाम, (५१) अनादेय नाम, (५२) अयश.कीर्ति नाम, (५३) समचतुरस्र सस्थान, (५४) न्यग्रोधपरिमण्डल सस्थान, (५५) सादि संस्थान, (५६) वामन संस्थान, (५७) कुब्ज संस्थान, (५८)

हुंड सस्थान, (५९) अगुरुलघु नाम, (६०) उपघात नाम, (६१) परा घात नाम, (६२) उच्छ्वास नाम, (६३) अपर्याप्त, (६४) प्रत्येक नाम (६५) स्थिर नाम, (६६) शुभ नाम, (६७) औदारिक अंगोपाग, (६८ वैक्रिय अगोपांग, (६९) आहारक अंगोपांग, (७०) सुस्वर नाम, (७१ नीच गोत्र तथा (७२) साता या असाता वेदनीय मे से कोई एक।[1]

उपर्युक्त ७२ प्रकृतियों का क्षय चौदहवे गुणस्थान के द्विचर समय मे हो जाने से अंतिम समय में निम्नलिखित १३ प्रकृतियों व सत्ता रहती है—मनुष्यत्रिक-मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी और म ष्यायु, त्रसत्रिक—त्रस, वादर, पर्याप्त नाम, यशःकीर्तिनाम, आदे नाम, सुभग, तीर्थङ्कर नाम, उच्चगोत्र, पचेन्द्रिय जाति एव सा

---

१ इन प्रकृतियो मे क्षेत्रविपाकी, जीवविपाकी और पुद्गलविपाकी प्रकृति का वर्गीकरण इस प्रकार करना चाहिए—

क्षेत्रविपाकी—(जिस कर्म के उदय से जीव नियत स्थान को प्राप्त क उसे क्षेत्र विपाकी कर्म कहते है।) देवानुपूर्वी।

जीवविपाकी—(जिम कर्म का फल जीवो मे हो, उसे जीवविपा कर्म कहते हैं।) देवगति, शुभ विहायोगति नाम, अशुभ विहायोगति ना दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयश कीर्ति, उच्छ्वास, अपर्याप्त, सुस्वर, नीचगोत्र, साता या असाता वेदनीय कर्म मे से कोई एक।

पुद्गलविपाकी—(जिसका फल पुद्गल—शरीर मे हो, उसे पुद्गलविपाकी कहते हैं।) गध द्विक, स्पर्श-अष्टक, रसपचक, वर्णपचक, शरीरपचक बन्धन पचक, सघातन पचक, निर्माणनाम, सहनन षट्क, अस्थिर, अशुभ, सस्थान षट्क, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, अंगोपागत्रिक।

या असाता वेदनीय में से कोई एक। अर्थात् चौदहवे गुणस्थान के अन्तिम समय तक सम्पूर्ण कर्म प्रकृतियों में से उक्त १३ प्रकृतियाँ ही शेष रहती है, अर्थात् सत्ता योग्य १४८ प्रकृतियों मे से १३५ प्रकृतियों का क्षय चौदहवे गुणस्थान के द्विचरम समय तक हो जाता है और शेष रही ये १३ प्रकृतियाँ भी ऐसी है कि जिनका अयोगिकेवली भगवान् समुच्छिन्न क्रियाऽप्रतिपाति शुक्लध्यान में ध्यानस्थ होकर पॉच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण करने जितने समय में क्षय करने से सर्वथा कर्म मुक्त हो ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों से रहित अनन्त सुख का अनुभव करने से शान्तिमय, नवीन कर्मबध के कारणभूत भाव-कर्म रूपी मैल से रहित, नित्य ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अव्याबाध, अवगाहन, अमूर्तत्व और अगुरुलघु—इन आठ गुणो सहित, कृतकृत्य, लोक के अग्रभाग मे स्थित होकर सिद्ध कहलाने लगते है।

साराश यह है कि बारहवे गुणस्थान की सत्तायोग्य प्रकृतियों मे से उसी गुणस्थान मे १४ प्रकृतियों का क्षय होने से तेरहवें गुणस्थान मे तथा चौदहवे गुणस्थान के द्विचरम समय पर्यन्त ८५ प्रकृतियों की सत्ता होती है। इन ८५ प्रकृतियों मे से चौदहवे गुणस्थान के द्विचरम समय मे ७२ प्रकृतियों का क्षय हो जाने से चौदहवे गुणस्थान के अन्तिम समय मे १३ प्रकृतियों की सत्ता शेष रहती है। इन १३ प्रकृतियों का भी इसी गुणस्थान के अन्तिम समय मे क्षय हो जाने से जीव सम्पूर्ण कर्ममल को नष्ट करके निष्कर्म होकर सर्वथा मुक्त बन जाता है।

इस प्रकार गुणस्थानों में क्रम से कर्म बन्ध, उदय और सत्तायोग्य प्रकृतियों की सख्या और उन-उनके अन्तिम समय में क्षय होने वाली प्रकृतियो का कथन किया जा चुका है। अब आगे की गाथा मे चौदहवे गुणस्थान के अन्तिम समय मे सत्तायोग्य १३ प्रकृतियों के

१२ प्रकृतियो के क्षय होने का अभिमत स्पष्ट करते हुए ग्रन्थ का उपसंहार करते है।

नरअणुपुव्वि विणा वा बारस चरिमसमयंमि जो खविउं।
पत्तो सिद्धिं देविंदवंदियं नमह तं वीरं ॥३४॥

गाथार्थ—अथवा पूर्वोक्त तेरह प्रकृतियों में से मनुष्यानुपूर्वी को छोड़कर शेष बारह प्रकृतियों को चौदहवे गुणस्थान के अन्तिम समय में क्षय कर जिन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है तथा देवेन्द्रों से अथवा देवेन्द्रसूरि से वन्दित ऐसे भगवान् महावीर को नमस्कार करो।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा मे चौदहवे—अयोगि केवली गुणस्थान के चरम समय मे तेरह प्रकृतियों की सत्ता क्षय होना बतलाया है। लेकिन इस गाथा मे बारह प्रकृतियो की सत्ता के क्षय होने के मत का सकेत करते हुए ग्रथ का उपसंहार किया गया है।

किन्ही आचार्यो का मत है कि मनुष्यानुपूर्वी नामकर्म की सत्ता चौदहवे गुणस्थान के द्विचरम समय में ही मनुष्यत्रिक में गर्भित मनुष्यगति नामकर्म प्रकृति मे स्तिबुक सक्रम द्वारा सक्रान्त होकर नष्ट हो जाती है। अत चौदहवे गुणस्थान के अन्तिम समय मे उसके दलिक नही रहते है और शेप बारह प्रकृतियों का स्वजाति के विना स्तिबुक सक्रम[1] नही होने से उनके दलिक चौदहवे गुणस्थान के अन्तिम समय

---

१. अनुदयवर्ती कर्मप्रकृति के दलिको को सजातीय और तुल्य स्थिति वाली उदयवर्ती कर्मप्रकृति के रूप मे बदलकर उसके दलिको के साथ भोग लेना स्तिबुकसक्रम कहलाता है।

भी सत्ता मे रहते है तथा जिनका उदय पहले से ही न हो, उनकी
त्ता द्विचरम समय में ही नष्ट हो जाती है। चारों आनुपूर्वी कर्म क्षेत्र-
विपाकी है, अतः उनका उदय भव (मरण होने से इस जन्म के शरीर
को छोड़कर दूसरे जन्म का शरीर धारण करने) की अन्तराल-

वद्ध कर्मो का अवाधाकाल समाप्त होने पर उदय मे जो कर्म आते है, वह उदय दो प्रकार का है—

(१) रसोदय, (२) प्रदेशोदय।

वँधे हुए कर्मो का साक्षात अनुभव करना रसोदय है। बँधे हुए कर्मो का अन्य रूप(अर्थात् दलिक तो जिन कर्मो के बाँधे हुए है, उनका रस दूसरे भोगे जाने वाले सजातीय प्रकृतियो के निषेक के साथ भोगा जाए, यानी जिसका रस स्वयं का विपाक न वता सके) से अनुभव, वह प्रदेशोदय कहलाता है। अन्य प्रकृति के साथ उदय होने का कारण यह है कि रसोदय होने के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव व भव—ये पाँच कारण है। उनमे से किसी एक या अधिक हेतुओ के अभाव मे उस कर्म का रसोदय नही होता। उदाहरणतः किसी जीव ने मनुष्य गति में रहते हुए एकेन्द्रिय जाति नामकर्म का वन्ध किया, अनन्तर विशुद्ध परिणामो से देवगति-प्रायोग्य वन्ध करके पचेन्द्रिय जाति का वन्ध किया व पचेन्द्रिय रूप से देवगति मे उत्पन्न हो गया। एकेन्द्रिय जाति का अवाधाकाल व्यतीत हुआ, परन्तु उस एकेन्द्रिय जाति के रसोदय हेतु भव रूप कारण चाहिए, जिसका देवगति में अभाव है, अत. वह कर्म रसोदय का अनुभव न कर प्रदेशोदय को प्राप्त करता है। उदयोन्मुख कर्म निषेक को रसोदय का मार्ग न मिलने से उसके निषेक के दलिक अन्य मार्ग—प्रदेशोदय को ग्रहण करते है। इस प्रदेशोदय के होने मे उन कर्मो का सहज परिणमन 'स्तिबुक संक्रमण' को ग्रहण करता है। अर्थात् अनुदयवती प्रकृतियो के सजातीय उदयवती प्रकृतियो मे स्तिबुक सक्रमण कहते है—अपर नाम प्रदेशोदय भी कह सकते है।

गति में ही होता है, भवस्थान—जन्मस्थान में नहीं होता है। अतः उदय का अभाव होने से अयोगि गुणस्थानवर्ती द्विचरम समय मे ७३ प्रकृतियो का क्षय करता है और अन्तिम समय मे १२ प्रकृतियो का क्षय होता है। अर्थात् देवद्विक आदि पूर्वोक्त ७२ प्रकृतियाँ, जिनका उदय नही है, जिस प्रकार द्विचरम समय में स्तिबुक सक्रम द्वारा उदयवती कर्मप्रकृतियों मे संक्रान्त होकर क्षय हो जाती है, उसी प्रकार उदय न होने से मनुष्यत्रिक मे गर्भित मनुष्यानुपूर्वी प्रकृति भी द्विचरम समय मे ही स्तिबुक सक्रम द्वारा उदयवती प्रकृतियों मे संक्रान्त हो जाती है। अत द्विचरम समय मे उदयवती कर्म प्रकृतियों में सक्रान्त पूर्वोक्त देवद्विक आदि ७२ प्रकृतियों की चरम समय मे सत्ता नहीं मानी जाती वैसे ही द्विचरम समय में उदयवती कर्म प्रकृति में सक्रान्त मनुष्यानुपूर्वी की सत्ता को भी चरम समय में नही मानना चाहिए। इसीलिए चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय मे १३ प्रकृतियों के बजाय १२ प्रकृतियों का क्षय होना मानना चाहिए।

सारांश यह है कि चौदहवे गुणस्थान के चरम समय में मनुष्य आनुपूर्वी नामकर्म का मनुष्यगति नामकर्म मे स्तिबुक सक्रम के कारण सक्रमण हो जाने से १३ प्रकृतियों की बजाय १२ प्रकृतियो का क्षय होना माना जाना चाहिए। ऐसा किन्ही-किन्हीं आचार्यों का मत है।

अन्त मे ग्रन्थकार ग्रन्थ का उपसंहार करते है कि इस प्रकार जिन्होंने सपूर्ण कर्मप्रकृतियों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त कर लिया है और जो देवेन्द्रों द्वारा अथवा देवेन्द्रसूरि द्वारा वन्दना किये जाते हैं, उन परमात्मा महावीर की सभी वन्दना करो।

गुणस्थानों मे कर्म प्रकृतियों के बंध, उदय और सत्ता तथा उन-उनके अन्त मे क्षय होने आदि की विशेष जानकारी परिशिष्ट मे दी गई है।

परिशिष्ट

(१) कर्म : बन्ध, उदय और सत्ता विषयक स्पष्टीकरण ।

(२) कालगणना : जैनदृष्टि ।

(३) तुलनात्मक मंतव्य ।

(४) बंध यंत्र ।

(५) उदय यत्र ।

(६) उदीरणा यंत्र ।

(७) सत्ता यंत्र ।

(८) गुणस्थानो मे वधादि विषयक यन्त्र ।

(९) कर्म प्रकृतियों का वध निमित्त विवरण ।

(१०) उदय अविनाभावी प्रकृतियों का विवरण ।

(११) सत्ता प्रकृतियों का विवरण ।

(१२) गुणस्थानों मे कर्म प्रकृतियों के वध, उदय, उदीरणा, सत्ता का विवरण ।

कर्म : बन्ध, उदय और सत्ता विषयक स्पष्टीकरण

बन्ध—नवीन कर्मो के ग्रहण को बध कहते है । जीव के स्वभावतः अमूर्त होने पर भी संसारस्थ जीव शरीरधारी होने से कथंचित मूर्त है, उस अवस्था मे कषाय और योग के निमित्त से अनादिकाल से मूर्त-कर्म पुद्गलों को ग्रहण करता आ रहा है । पुद्गल-वर्गणाएँ अनेक प्रकार की है, उनमें से जो वर्गणाएँ कर्म रूप परिणाम को प्राप्त करने की योग्यता रखती है, जीव उन्हीको ग्रहण करके निज आत्मप्रदेशो के साथ सयोग सम्वन्ध के द्वारा विशिष्ट रूप से जोड लेता है । इनमे से कषाय के उदय के निमित्त से होने वाले कर्मबन्ध को सापरायिक वन्ध और शेष को योगनिमित्तक (योगप्रत्ययिक) कहते है। यहाँ कषाय शब्द से सामान्यतया मोहनीय कर्म को ग्रहण किया गया है ।

बन्ध के कारणों मे योग और कषाय (मोहनीय कर्म) मुख्य है । उसके कारण जिस गुणस्थान में जिस प्रकार के निमित्त होते है, वैसे कर्म बँधते है, जैसे—वेदनीय कर्म मे से सातावेदनीय कर्मप्रकृति योग के निमित्त से बँधती है और असातावेदनीय कर्म के वन्ध मे कषाय के सहकार की आवश्यकता होती है ।

मोहनीय कर्म (कषाय) के निमित्त से होने वाले वन्ध के भी प्रमाद सहकृत, अप्रमाद सहकृत—ये दो भेद होते है । मोहनीय कर्म के सूक्ष्म सपराय, वादर सपराय तथा वादर सपराय में भी निवृत्ति-अनिवृत्ति, यथा-प्रवृत्ति, अपूर्वकरण—अपूर्वकरण, प्रत्याख्यानीय, अप्रत्याख्यानीय, अनन्तानुबधनीय, मिथ्यात्व आदि निमित्त वनते है तथा सम्यक्त्व सहकृत सक्लेश परिणाम भी वन्ध में निमित्त रूप होता है ।

उक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिन गुणस्थानों में जितने निमित्त सम्भव है, उस-उस गुणस्थान में उन निमित्तो से वँधने वाली

सभी कर्म प्रकृतियों का वन्ध होता है। निमित्तो और उससे वँधने वाली कर्म प्रकृतियों का विवरण इस प्रकार है—

(१) **योग-निमित्तक**—सातावेदनीय। १

(२) **सूक्ष्मसंपराय सहकृत संक्लेश निमित्तक**—दर्शनावरण चतुष्क (चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन), ज्ञानावरण पचक (मति, श्रुत, अवधि, मन पर्याय, केवल), अन्तराय पचक (दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य), उच्चगोत्र, यश कीर्तिनाम। १६

(३) **अनिवृत्ति बादर संपराय सहकृत संक्लेश निमित्तक**—सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, पुरुषवेद। ५

(४) **अपूर्वकरण निवृत्ति बादर संपराय सहकृत संक्लेश निमित्तक**—हास्य, रति, जुगुप्सा, भय, निद्रा, प्रचला, देवगति, देवानुपूर्वी, पचेन्द्रिय जाति, शुभ विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, वैक्रिय शरीर, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, वैक्रिय अगोपाग, समचतुरस्र संस्थान, निर्माण नाम, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, श्वासोच्छ्वास। ३३

(५) **यथाप्रवृत्ति अप्रमाद भाव सहकृत संक्लेश निमित्तक**—आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग। २

(६) **प्रमादभाव सहकृत संक्लेश निमित्तक**—शोक, अरति, अस्थिर, अशुभ, अयश.-कीर्ति, असातावेदनीय, देवायु। ७

(७) **प्रत्याख्यानीय कपाय सहकृत संक्लेश निमित्तक**—प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ। ४

(८) अप्रत्याख्यानीय सहकृत संक्लेश निमित्तक—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, औदारिक शरीर, औदारिक अगोपांग, वज्रऋषभ नाराच सहनन। १०

(९) अनन्तानुबन्धी कषाय सहकृत संक्लेश निमित्तक—तिर्यंच गति, तिर्यंचानुपूर्वी, तिर्यंचायु, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, ऋषभनाराच सहनन, नाराच संहनन, अर्धनाराच सहनन, कीलिका सहनन, न्यग्रोध संस्थान, सादि सस्थान, वामन सस्थान, कुब्ज सस्थान, नीचगोत्र, उद्योत नाम, अशुभ विहायोगति, स्त्रीवेद। २५

(१०) मिथ्यात्व सहकृत संक्लेश निमित्तक—नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, हुडक संस्थान, आतप नाम, सेवार्त संहनन, नपुसकवेद, मिथ्यात्व। १६

(११) सम्यक्त्व सहकृत संक्लेश निमित्तक—तीर्थंकर नामकर्म। १

प्रत्येक गुणस्थान मे वन्धयोग्य कौन कौन-सी प्रकृतियाँ होती हैं, और कौन-सी नही होती है इसका कारण तथा वन्धयोग्य १२० प्रकृतियों मे से प्रत्येक प्रकृति का किस गुणस्थान तक वन्ध होता है, आदि की तालिका वनाने से गुणस्थानों मे कर्म प्रकृतियों के वन्ध की विशेष जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

उदय-उदीरणा

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के निमित्त से स्थिति को पूर्ण करके कर्म का फल मिलना उदय कहलाता है। अर्थात् जिस समय कोई कर्म बंधता है, उस समय से ही उसकी सत्ता की शुरुआत हो जाती है

और जिस कर्म का जितना अबाधाकाल होता है, उसके समाप्त होते ही उस कर्म के उदय मे आने के लिए कर्म-दलिकों की निषेक नामक एक विशेष प्रकार की रचना होती है और निषेक के अग्रभाग मे स्थित कर्म उदयावलि में स्थित होकर फल देना प्रारम्भ कर देते है।

उदय में आने के समय के पूर्ण न होने पर भी आत्मा के करण विशेष से—अध्यवसाय विशेष से कर्म का उदयावलि मे आकर फल देना उदीरणा कहलाती है।

कर्मोदय के विषय मे यह विशेष रूप से समझ लेना चाहिए कि सम्यक्त्व मोहनीय कर्म का उदय चौथे से लेकर सातवे गुणस्थान तक, तीर्थंकर नामकर्म का रसोदय तेरहवे और चौदहवे गुणस्थान मे और प्रदेशोदय चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होता है।

उदययोग्य १२२ प्रकृतियाँ है और उनके उदय के निमित्त लगभग निम्नलिखित हो सकते है। इन निमित्तों के साथ जोड़े गये अविना-भावी शब्द का अर्थ 'साथ में अवश्य रहने वाला' करना चाहिए।

(१) केवलज्ञान अविनाभावी प्रकृति—तीर्थङ्कर नामकर्म।

(२) मिश्रगुणस्थानक अविनाभावी—मिश्र मोहनीय।

(३) क्षयोपशम सम्यक्त्व अविनाभावी—सम्यक्त्व मोहनीय।

(४) प्रमत्तसंयत अविनाभावी—आहारक शरीर, आहारक अंगोपाग।

(५) मिथ्यात्वोदय अविनाभावी—सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, आतप नामकर्म, मिथ्यात्व मोहनीय।

(६) जन्मान्तर अविनाभावी—नरकानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, देवानुपूर्वी।

(७) अनन्तानुबन्धी कषायोदय अविनाभावी—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, स्थावर, एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्म। ९

(८) अप्रत्याख्यानावरण कषायोदय अविनाभावी—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, देवगति, देवायु, नरकगति, नरकायु, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अगोपाग, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्तिनाम। १३

(९) प्रत्याख्यानावरण कषायोदय अविनाभावी—प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, तिर्यच गति, तिर्यचायु, नीचगोत्र, उद्योत नामकर्म। ८

(१०) प्रमत्तभाव अविनाभावी—निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि। ३

(११) पूर्वकरण अविनाभावी—अर्धनाराच सहनन, कीलिका सहनन, सेवार्त सहनन। ३

(१२) तथाविध संक्लिष्ट परिणामाविनाभावी—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा। ६

(१३) बादर कषायोदय अविनाभावी—पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुसकवेद, सज्वलन क्रोध, मान, माया। ६

(१४) अयथाख्यात चारित्र अविनाभावी—सज्वलन लोभ। १

(१५) अक्षपक अविनाभावी—ऋषभनाराच संहनन, नाराच सहनन। २

(१६) छाद्मस्थिक भाव अविनाभावी—निद्रा, प्रचला, ज्ञानावरण पचक (मति, श्रुत, अवधि, मन.पर्याय, केवल), दर्शनावरण चतुष्क (चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल), अन्तराय पंचक (दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य)। १६

(१७) **बादर काययोग अविनाभावी**—औदारिक शरीर, औदारिक अगोपाग, अस्थिर, अशुभ, शुभ विहायोगति, अशुभ विहायोगति, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, समचतुरस्र सस्थान, न्यग्रोधपरिमण्डल सस्थान, सादि सस्थान, वामन सस्थान, कुब्ज संस्थान, हुण्ड सस्थान, अगुरुलघु नाम, उपघात नाम, पराघात नाम, श्वासोच्छ्वास नाम, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श नाम, निर्माण नाम, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, वज्रऋषभनाराच सहनन। २७

(१८) **बादर वचनयोग अविनाभावी**—दु:स्वर, सुस्वर नाम। २

(१९) **सांसारिक भाव अविनाभावी**—साता वेदनीय, असाता वेदनीय। २

(२०) **मनुष्य भव अविनाभावी**—मनुष्यगति, मनुष्यायु। २

(२१) **मोक्ष सहायक मुख्य पुण्य प्रकृतियाँ**—त्रस, बादर, पर्याप्त, पचेन्द्रिय जाति, उच्चगोत्र, सुभग, आदेय, यश कीर्तिनाम। ८

पूर्वोक्त उदय के निमित्तों मे कितनेक मुख्य और दूसरे कितनेक उनके अन्तर्गत सहायक निमित्त भी होते है। जैसे कि प्रमत्तभाव के मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी कषाय आदि बादर (स्थूल) कषाय के सभावित प्रत्येक निमित्त नौवे गुणस्थान तक होते है। सिद्धत्व को प्राप्त करने के अति निकट ससारी जीव मे मनुष्यभव तथा केवलज्ञान अविनाभावी प्रकृतियो का भी समावेश होता है। इन निमित्तों का अभ्यासियो की सरलता के लिए यहाँ संकेत किया गया है।

उदय के समान उदीरणा अधिकार समझना चाहिए और उसमे जिन प्रकृतियो की न्यूनाधिकता आदि बतलाई गई है, तद्नुसार घटाकर समझ लेना चाहिए।

ता

) वन्धादिक द्वारा स्वरूप प्राप्त कर्म प्रकृतियों का जीव के साथ वर्त-
ान रहना सत्ता कहलाती है। सत्तायोग्य १४८ कर्म प्रकृतियाँ हैं।
गस्थान क्रम से किस गुणस्थान तक कितनी-कितनी प्रकृतियों की
ता रहती है, इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार से समझना चाहिए।

(१) मिथ्यात्व गुणस्थान—मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती आत्मा के मुख्य-
ा दो भेद होते हैं—(१) अनादि मिथ्यात्वी, (२) सादि मिथ्यात्वी।
न्होंने मिथ्यात्व गुणस्थान से कभी भी अन्य गुणस्थान प्राप्त नहीं
या है, उन्हे अनादि मिथ्यात्वी कहते हैं। उनमें भी कितने ही जीव
गे के गुणस्थान प्राप्त करने की योग्यता रखने वाले होते हैं और
तनेक उस प्रकार की योग्यताविहीन होते है। उनको शास्त्रों में
ाग' भव्य और अभव्य कहा है। इनके भी दो भेद होते है—उनमें
तनेक जीवो ने त्रस पर्याय प्राप्त ही नही की है और कितनेक जीव
पर्याय प्राप्त किये हुए होते हैं। उनमें भी कितने ही जीव
ी भव मे आगामी भव की आयु का वन्ध किये हुए और [illegible]
ये हुए—ये दो भेद होते है। उन्हें पूर्ववद्धायु और अबद्धायु [illegible]
। साराश यह है कि इनके निम्नलिखित भेद होते है—

(१) अनादि मिथ्यात्वी त्रस पर्याय प्राप्त नही [illegible]
वद्धायु।

(२) अनादि मिथ्यात्वी त्रस पर्याय प्राप्त नही [illegible]
द्धायु।

(३) अनादि मिथ्यात्वी त्रस पर्याय प्राप्त [illegible] पूर्व [illegible]।

(४) अनादि मिथ्यात्वी त्रस पर्याय प्राप्त [illegible]।

इन चारो के भव्य और अभव्य की अपेक्षा से कुल आठ भेद हो जाते है ।

उक्त भेदों के द्वारा मिथ्यात्व गुणस्थान मे प्रकृतियो की सत्ता समझने में सुविधा होगी । परन्तु प्रकृतियों की सत्ता समझने के पूर्व इतना समझ लेना चाहिए कि कभी भी त्रस पर्याय प्राप्त नही करने वालों को मनुष्यद्विक, नरकद्विक, देवद्विक, वैक्रिय चतुष्क, आहारक चतुष्क, नरकायु, मनुष्यायु, देवायु, सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय, उच्चगोत्र और तीर्थङ्कर नामकर्म—इन इक्कीस प्रकृतियों की कभी भी सत्ता नही होती है तथा जो अनादि मिथ्यात्वी है, उन्हे सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय, आहारक चतुष्क और तीर्थङ्कर नामकर्म इन सात प्रकृतियों की सत्ता होती ही नही है। एक जीव को अधिक से अधिक दो आयुकर्म की सत्ता होती है ।

अब उक्त आठ भेदों मे सत्ता विषयक विचार करते है—

(१) अनादि मिथ्यात्वी, त्रस पर्याय प्राप्त नही किये हुये पूर्व वद्धायु अभव्य जीव के पूर्वोक्त इक्कीस प्रकृतियो के सिवाय १२७ प्रकृतिया सत्ता मे होती है ।

(२) अनादि मिथ्यात्वी त्रस पर्याय प्राप्त नही किये हुये अवद्धायु अभव्य जीव के भी पूर्व कथनानुसार १२७ प्रकृतियाँ सत्ता मे होती है।

(३) अनादि मिथ्यात्वी त्रस पर्याय प्राप्त पूर्व वद्धायु अभव्य जीव के भी अनादि मिथ्यात्वी होने से तद्विरोधी सम्यक्त्व मोहनीय आदि सात प्रकृतिया सत्ता मे होती ही नही है तथा पूर्व वद्धायु होने से अनेक जीवो की अपेक्षा १४१ प्रकृतियो की सत्ता होती है और एक जीव की अपेक्षा से विचार करने पर अन्य गति की आयु का वन्ध करने वाले

जीव को १३९ प्रकृतियों की तथा तद्गति की आयु का बन्ध करने वाले को १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(४) अनादि मिथ्यात्वी त्रस पर्याय प्राप्त अबद्धायु अभव्य जीव के अनादि मिथ्यात्वी होने से सम्यक्त्व मोहनीय आदि सात प्रकृतियाँ सत्ता में होती ही नही है तथा अबद्धायु होने से भुज्यमान आयु सत्ता में होती है। अतः शेष तीन आयु भी सत्ता में नही रहती है। इस प्रकार दस प्रकृतियों के विना बाकी की १३८ प्रकृतियाँ सत्ता में होती है।

(५-६) अनादि मिथ्यात्वी त्रस पर्याय प्राप्त नही करने वाले पूर्वबद्धाय भव्य तथा अनादि मिथ्यात्वी त्रस पर्याय प्राप्त नही करने वाले अबद्धायु भव्य जीवो को अभव्य जीवों के लिए कहे गए पहले व दूसरे दो भगो के अनुसार ही कर्मप्रकृतियो की सत्ता समझनी चाहिए। अर्थात् जिस प्रकार उन अभव्य जीवों को १२७ प्रकृतियों की सत्ता होती है इसी प्रकार इन दोनों प्रकार के भव्य जीवों के भी १२७ प्रकृतियों की सत्ता समझनी चाहिए।

(७) अनादि मिथ्यात्वी त्रस पर्याय प्राप्त पूर्व बद्धायु भव्य जीव के अनादि मिथ्यात्वी होने से सम्यक्त्व मोहनीय आदि सात प्रकृतियों के सिवाय अनेक जीवों की अपेक्षा से १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती है तथा एक जीव की अपेक्षा विचार करने पर अन्य आयु का वन्ध करने वाले जीव के १३९ प्रकृतियों की और उसी गति की आयु को बाधने वाले जीव को १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(८) अनादि मिथ्यात्वी त्रस पर्याय प्राप्त अवद्धायु भव्य जीव की सत्ता का विचार दो प्रकार से किया जाता है—(१) सद्भाव सत्ता (२) संभव सत्ता।

जो जीव उसी भव मे मोक्ष प्राप्त करने वाले है और विद्यमान कर्म प्रकृतियों की सत्ता वाले है, उन दोनों प्रकार के जीवों का समावेश सद्‌भाव सत्ता मे और जिन जीवों के आयु वन्ध सभव है, उन जीवों का समावेश संभव सत्ता में होता है।

सद्‌भाव सत्ता वाले जीवों के सम्यक्त्व मोहनीय आदि सात तथा तीन आयु—इन दस प्रकृतियों के सिवाय १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है। उनके सिर्फ भुज्यमान आयु ही होती है।

सभव सत्ता वाले जीवों मे (१) अनेक जीवो की अपेक्षा चारों आयुयों को गिनने से सम्यक्त्व मोहनीय आदि सात प्रकृतियों से रहित १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती है। (२) एक जीव की अपेक्षा अन्य गति की आयु बॉधने वाले को १३९ प्रकृतियों की तथा (३) उसी गति की आयु बॉधने वाले को १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

इस प्रकार अनादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से प्रकृतियों की सत्ता वतलाने के अनन्तर अव सादि मिथ्यादृष्टि के कर्म प्रकृतियों की सत्ता वतलाते है।

जो सम्यक्त्व प्राप्त करने के अनन्तर संक्लिष्ट अध्यवसाय के योग से गिरकर पहले गुणस्थान मे आया हो, उसे सादि मिथ्यात्वी कहते है। इनमे मे कितने ही श्रेणि से पतित और कितने ही सिर्फ सम्यक्त्व से पतित होते है। सम्यक्त्व प्राप्त करने के वाद अनन्तानुवन्धी की विसयोजना कर जो यहाँ आते है, उन्हे अनन्तानुवन्धी की सत्ता नही होती है, किन्तु तत्काल ही यहाँ उसका वन्ध होने से सत्ता भी होती है। अत सभी जीवों की अपेक्षा पूर्ववद्धायु वाले जीवो के १४८ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

अवद्धायु वालों को भी सभी जीवों की अपेक्षा से १४८ प्रकृतियों की सत्ता होती है। इसका कारण यह है कि चारों गतियों में आयु कर्म का वन्ध नही करने वाले (अबन्धक) जीव होते है। अमुक एक गति की अपेक्षा से १४५ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

विशेष रूप से विचार करने पर इसके दस विभाग हो जाते है—
(१) तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता वाला (पूर्व बद्धायु) सादि मिथ्यात्वी,
(२) तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता वाला (अबद्धायु) सादि मिथ्यात्वी,
(३) आहारक चतुष्क की सत्ता वाला (पूर्व बद्धायु) सादि मिथ्यात्वी,
(४) आहारक चतुष्क की सत्ता वाला (अवद्धायु) सादि मिथ्यात्वी,
(५) तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारक चतुष्क की सत्ता रहित (पूर्वबद्धायु) सादि मिथ्यात्वी, (६) तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारक चतुष्क की सत्तारहित (अवद्धायु) सादि मिथ्यात्वी, (७) तीर्थंकर नामकर्म और आहारक चतुष्क की सत्ता रहित सम्यक्त्व मोहनीय उद्वेलक (पूर्व-बद्धायु) सादि मिथ्यात्वी, (८) तीर्थंकर नामकर्म और आहारक चतुष्क की सत्तारहित सम्यक्त्व मोहनीय उद्वेलक (अवद्धायु) सादि मिथ्यात्वी, (९) तीर्थंकर नामकर्म और आहारक चतुष्क की सत्ता रहित सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय उद्वेलक (पूर्वबद्धायु) सादि मिथ्यात्वी तथा (१०) तीर्थंकर नामकर्म और आहारक चतुष्क की सत्ता रहित सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय उद्वेलक (अवद्धायु) सादि मिथ्यात्वी।

जिनको तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता होती है, उनको आहारक चतुष्क की सत्ता इस मिथ्यात्व गुणस्थान मे होती ही नही है। उक्त दस भेदों मे सत्ता इस प्रकार समझनी चाहिए—

(१) तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता सहित पूर्व वद्धायुष्क सादि मिथ्यादृष्टि जीवों के आहारक चतुष्क, तिर्यचायु और देवायु—इन छह प्रकृतियों के बिना १४२ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(२) तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता सहित अवद्धायु सादि मिथ्यादृष्टि जीवों के नरकायु की ही सत्ता वाले होने से शेष तीन आयुकर्म और आहारक चतुष्क इन सात प्रकृतियों के सिवाय १४१ प्रकृतियो की सत्ता होती है।

(३) आहारक चतुष्क की सत्ता सहित पूर्व वद्धायु सादि मिथ्यादृष्टि जीवों में अनेक जीवों की अपेक्षा तीर्थङ्कर नामकर्म के सिवाय १४७ प्रकृतियों की और एक जीव की अपेक्षा उसी गति की आयु वाँधने वाले को १४४ की तथा अन्य गति की आयु वाँधने वाले को १४५ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(४) आहारक चतुष्क की सत्ता सहित अबद्धायु सादि मिथ्यात्वी जीव चारों गति में भिन्न-भिन्न आयु कर्म की सत्ता वाले होते है। अतः अनेक जीवों की अपेक्षा तीर्थङ्कर नामकर्म के सिवाय १४७ प्रकृतियो की और एक जीव की अपेक्षा १४४ की सत्ता वाले होते है।

(५) तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारक चतुष्क की सत्ता रहित पूर्व वद्धायु सादि मिथ्यात्वी जीवों मे तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारक चतुष्क के विना सभी जीवो की अपेक्षा १४३ की, एक जीव की अपेक्षा उसी गति की आयु वाँधने वाले के १४० की और अन्य गति की आयु बाधने वाले के १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(६) तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारक चतुष्क रहित अवद्धायु सादि मिथ्यात्वी जीव चारों गति में भिन्न-भिन्न आयु की सत्ता वाले

होने से अनेक जीवों की अपेक्षा १४३ की और एक जीव की अपेक्षा १४० प्रकृतियों की सत्ता वाले होते है।

(७) तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारक चतुष्क रहित सम्यक्त्व-मोहनीय के उद्वेलक पूर्व बद्धायु सादि मिथ्यात्वी जीवों में सभी जीवों की अपेक्षा तीर्थङ्कर नामकर्म, आहारक चतुष्क और सम्यक्त्व मोहनीय के सिवाय १४२ प्रकृतियों की तथा एक जीव की अपेक्षा तद्गति की आयु का वन्ध करने वाले को १३९ प्रकृतियों की और अन्य गति की आयु बाँधने वाले को १४० प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(८) तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारक चतुष्क की सत्ता रहित सम्यक्त्व मोहनीय उद्वेलक अवद्धायु सादि मिथ्यात्वी जीव चारों गति में होते है। इसलिए तीर्थकर नामकर्म और आहारक चतुष्क व सम्यक्त्व मोहनीय के सिवाय अनेक जीवो की अपेक्षा १४२ प्रकृतियों की और एक जीव की अपेक्षा १३९ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(९) तीर्थकर नामकर्म और आहारक चतुष्क की सत्ता रहित सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय उद्वेलक पूर्वबद्धायु सादि मिथ्यात्वी जीव के अनेक जीवों की अपेक्षा तीर्थकर नामकर्म और आहारक चतुष्क, सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय के सिवाय १४१ प्रकृतियों की, एक जीव की अपेक्षा उसी गति को बाँधने वाले के १३८ की और अन्य गति को बाँधने वाले के १३९ प्रकृतियो की सत्ता होती है।

(१०) तीर्थकर नामकर्म और आहारक चतुष्क विहीन, सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय उद्वेलक अवद्धायु सादि मिथ्यादृष्टि जीव चारों ही गति में होने से अनेक जीवों की अपेक्षा सात प्रकृ-

तियों के सिवाय १४१ प्रकृतियों की और एक जीव की अपेक्षा १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

आहारक चतुष्क की सत्ता वाला सम्यक्त्व मोहनीय की सत्ता सहित पहले गुणस्थान मे होता है। तीर्थकर नामकर्म की सत्ता वाला भी इसी प्रकार है और सम्यक्त्व मोहनीय का उद्वेलन करने के बाद ही पहले गुणस्थान मे मिश्र मोहनीय का उद्वेलन होता है।

जीव सामान्य की अपेक्षा मिथ्यात्व गुणस्थान मे कर्म प्रकृतियों की सत्ता बतलाने के पश्चात् चार गतियों की अपेक्षा अनादि और सादि मिथ्यादृष्टि जीवों के कर्म प्रकृतियों की सत्ता बतलाते है उनमें से अनादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा चारो गतियों मे कर्म प्रकृतियों की सत्ता का क्रम इस प्रकार है—

नरकगति—इस गति के जीव मनुष्य और तिर्यंच इन दो आयु को ही बाँध सकते है। अतः उक्त दो आयु और भुज्यमान नरक ये तीन आयु अनेक जीवों की अपेक्षा से सत्ता मे हो सकती है त अनादि मिथ्यात्वी के पहले कहे गये आठ भेदो मे से त्रस पर्याय प्रा ऐसे चार भेद ही यहाँ हो सकते है। अतः अनुक्रम से तीसरा, चौ सातवाँ और आठवाँ—इन चार भेदों की सत्ता नरकगति मे पूर्वबद्ध को अनेक जीवों की अपेक्षा से सम्यक्त्व मोहनीय आदि सात त देवायु के विना १४० प्रकृतियों की सत्ता होती है। सम्भव सत्ता भी उक्त कथनानुसार ही सत्ता होती है तथा एक जीव की अपे १३९ की तथा अबद्धायु को १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

तिर्यंचगति—इस गति मे अनादि मिथ्यात्वी के पूर्वोक्त अ विकल्प हो सकते है और तदनुरूप ही सत्ता भी हो सकती है। प

इतना विशेष है कि त्रस पर्याय प्राप्त जीव तेजस्कायिक और वायुकायिक पर्याय को प्राप्त करता है, तब देवद्विक अथवा नरकद्विक का उद्वेलन करे तो अन्य गति में नही जाने वाला होने से तद्योग्य देव, मनुष्य और नरकायु तथा अनादि मिथ्यात्वी होने से सम्यक्त्व मोहनीय आदि सात प्रकृतियां कुल बारह प्रकृतियों के सिवाय एक जीव की अपेक्षा १३६ प्रकृतियों की तथा पहले कहे गये देवद्विक अथवा नरकद्विक—इन दो द्विकों में से बाकी रहे एक द्विक और वैक्रिय चतुष्क—इस वैक्रियषट्क का उद्वेलन करने पर १३० प्रकृतियों की, उच्चगोत्र का उद्वेलन करने पर १२९ की और मनुष्यद्विक की उद्वेलना करे तो १२७ प्रकृतियो की सत्ता होती है।

पृथ्वी, अप् और वनस्पतिकायिक जीव नरकद्विक या देवद्विक का उद्वेलन करे तो अनादि मिथ्यात्वी होने से सम्यक्त्व मोहनीय आदि सात और देव तथा नरक मे जाने वाला नही होने से दो आयु इस प्रकार कुल नौ प्रकृतियो के विना अनेक जीवों की अपेक्षा १३९ की सत्ता होती है। क्योंकि कोई नरकद्विक का उद्वेलन करे और कोई देवद्विक का उद्वेलन करे, परन्तु अनेक जीवों की अपेक्षा दोनों द्विक सत्ता में होते है। अमुक एक ही प्रकार के द्विक का उद्वेलन करें तो ऐसे जीवो की अपेक्षा १३७ प्रकृतियों की तथा पूर्वबद्ध अनेक जीवों की अपेक्षा मनुष्यायु को बाँधने वाले को १३७ की और तिर्यंचायु बाँधने वाले और अबद्धायुष्क के १३६ प्रकृतियों की सत्ता होती है। यदि वैक्रियषट्क की उद्वेलना की हो तो १३७ के बदले १३१ और १३६ के बदले १३० प्रकृतियों की सत्ता होगी।

पूर्वोक्त सत्ता सिर्फ तेजस्कायिक, वायुकायिक में ही नहीं समझना चाहिए, किन्तु वहाँ से निकलकर आये हुए अन्य तिर्यंचो में भी

अपर्याप्त अवस्था मे अल्पकाल तक रहती है। अतः वहा भी सभावना मानी जा सकती है। शेष रहे हुए तिर्यच जीवों के पहले कहे गए आठ विकल्पों मे से तीसरे, चौथे, सातवें और आठवे विकल्प के अनुसार भी होती है।

मनुष्यगति—इस गति में अनादि मिथ्यात्वी के पूर्वोक्त आठ विकल्पों मे से तीसरा, चौथा, सातवाॅ और आठवाॅ ये चार विकल्प संभव है, अतः उसी के अनुसार प्रकृतियों की सत्ता समझ लेनी चाहिए। परन्तु जो नरकद्विक अथवा देवद्विक की उद्वेलना करते है, उनके सम्यक्त्व मोहनीय आदि सात तथा उनके अबद्धायु वाले होने से शेष तीन आयु, कुल बारह प्रकृतियों के सिवाय एक जीव की अपेक्षा १३६ की, अनेक जीवों की अपेक्षा १३८ की तथा वैक्रियषट्क और पूर्वोक्त द्विक की उद्वेलना की हो तो १३० प्रकृतियों की भी सत्ता अल्प काल के लिए हो सकती है।

देवगति—इस गति वाले जीव नरकगति मे नही जाते है। अत. तद्योग्य आयु का बध करते ही नही है और अनादि मिथ्यात्वी हों तो सम्यक्त्व मोहनीय आदि सात—कुल आठ प्रकृतियों के सिवाय पूर्व-बद्धायु को अनेक जीवो की अपेक्षा १४० की और एक जीव की अपेक्षा १३९ की और अवद्धायु को १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती।

इस प्रकार चारो गतियो मे अनादि मिथ्यात्वी जीवो के कर्म प्रकृतियो की सत्ता बतलाने के बाद अब सादि मिथ्यात्वी की अपेक्षा चारों गतियो मे कर्म प्रकृतियो की सत्ता बतलाते है।

नरकगति—इस गति मे अनेक जीवो की अपेक्षा पूर्व बद्ध-आयु-वाले के देवायु का बन्ध न होने मे १४७ की तथा एक प्रकार की आयु

ांधने वाले अनेक जीवों की अपेक्षा १४६ की तथा अबद्ध-आयु वाले
: अनेक जीवो की अपेक्षा १४५ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

यदि तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता वाला पहले गुणस्थान
। नरकगति मे अबद्धायु ही हो तो उसे आहारक चतुष्क, देव, मनुष्य,
ौर तिर्यच आयु—ये सात प्रकृतियाँ सत्ता मे नही होने से १४१ की
ौर आहारक चतुष्क की सत्ता वाले पूर्वबद्धायु के अनेक जीवों की
पेक्षा १४६ की, एक जीव की अपेक्षा १४५ की और अबद्धायु के
४४ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

यदि तीर्थकर नामकर्म और आहारक चतुष्क की सत्ता से रहित
र्ववद्धायु हो तो अनेक जीवों की अपेक्षा १४२ की, एक जीव की
पेक्षा १४१ की और अवद्धायु के १४० प्रकृतियों की सत्ता होती है।
नमे भी सम्यक्त्व मोहनीय के उद्वेलक को पूर्वबद्धायु अनेक जीवों
की अपेक्षा १४१, एक जीव की अपेक्षा १४० की तथा अबद्धायु के १३९
की तथा मिश्र मोहनीय के उद्वेलक को पूर्वबद्धायु अनेक जीवों की
अपेक्षा १४० की और एक जीव की अपेक्षा १३९ की और अबद्धायु के
१३८ प्रकृतियो की सत्ता होती है।

तिर्यंचगति—इस गति मे तीर्थकर नामकर्म की सत्ता होती ही नही
है। अत. अनेक जीवों की अपेक्षा १४७ की और एक जीव की अपेक्षा
उसी गति को बाँधने वाले के १४४ की और अन्य गति को बाँधने वाले
के १४५ की और अवद्धायुष्क को १४४ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

आहारक चतुष्क की सत्ता रहित पूर्वबद्धायु अनेक जीवो की
अपेक्षा १४३ की, एक जीव की अपेक्षा उसी गति को बाँधने वाले के
१४१ की तथा अवद्धायुष्क के भी १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती है।
सम्यक्त्व मोहनीय का उद्वेलन करने वाले पूर्व वद्धायु अनेक जीवों की

अपेक्षा १४२ की, एक जीव की अपेक्षा उसी गति का वन्ध करने वाले के १३९ की और अन्य गति का बध करने वाले के १४० प्रकृतियो की सत्ता होती है तथा मिश्र मोहनीय उद्वेलक पूर्वबद्धायु के अनेक जीवों की अपेक्षा १४१ की तथा अन्य गति की आयु बाधने वाले एक जीव की अपेक्षा १३९ की एव उसी गति की आयु बाँधने वाले के १३८ की तथा अबद्धायु को भी १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

तेजस्कायिक, वायुकायिक मे यदि आहारक चतुष्क का उद्वेलन करे तो १४० की तथा सम्यक्त्व मोहनीय की उद्वेलना करे तो १३९ की और उसके बाद यदि मिश्र मोहनीय की उद्वेलना करे को १३८ की और तदनन्तर देवद्विक अथवा नरकद्विक की उद्वेलना करे तो १३६ प्रकृतियों की सत्ता व अनेक जीवों की अपेक्षा १३८ की होती है और उसके बाद वैक्रियषट्क के घटाने पर १३० की, उच्चगोत्र कम करने पर १२९ की और मनुष्यद्विक को कम करने पर १२७ प्रकृतियो की सत्ता होती है।

उक्त सत्ता तेजस्कायिक, वायुकायिक मे से आये हुए अन्य तिर्यचों के भी अल्पकाल के लिए होती है। अन्य स्थावरों को १३० प्रकृतियो तक की सत्ता तेजस्कायिक और वायुकायिक मे से न भी आये हो तो भी होती है तथा १३० प्रकृतियों की सत्ता वाला मनुष्यायु का वन्ध करे तो १३१ प्रकृतियो की भी सत्ता होती है।

मनुष्यगति—इस गति मे अनेक जीवों की अपेक्षा पूर्वबद्धायु को १४८ की एवं एक ही गति की आयु बाँधने वाले अनेक जीवो की अपेक्षा १४६ की तथा उसी गति को बाँधने वाले ऐसे अनेक जीवो की अपेक्षा १४५ की और अवद्धायुष्क के भी १४५ प्रकृतियो की सत्ता होती है।

आहारक चतुष्क की सत्ता वालों को पूर्वबद्धायु अनेक जीवों की अपेक्षा १४७ की और तद्गति की आयु को बाँधने वाले को १४४ की एवं अन्य गति को बाधने वाले को १४५ की और अबद्धायुष्क को १४४ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

यदि सम्यक्त्व मोहनीय का उद्वेलन करने वाला पूर्वबद्धायु हो तो अनेक जीवों की अपेक्षा तीर्थङ्कर नामकर्म, आहारक चतुष्क और सम्यक्त्व मोहनीय के विना १४२ की एवं एक जीव की अपेक्षा अन्य गति की आयु का बन्ध करने वाले को १४० की तथा उसी गति का बन्ध करने वाले को १३९ की और अबद्धायुष्क को भी १३९ की तथा देवद्विक या नरकद्विक की उद्वेलना की हो तो पूर्वबद्धायु अनेक जीवो की अपेक्षा तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारक चतुष्क के सिवाय १४३ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

यदि सम्यक्त्व मोहनीय की उद्वेलना करे तो १४२ की तथा नरकद्विक या देवद्विक की उद्वेलना करे तो अनेक जीवों की अपेक्षा १४२ की और दोनों द्विकों मे से एक द्विक की उद्वेलना की हो तो अनेक जीवो की अपेक्षा १४० की तथा उसी गति का वन्ध करने वाले को १३७ की और अन्य गति को बाँधने वाले के १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है। जिस प्रकार अनेक जीवों को अपेक्षा अनुक्रम से १३८ और १३६ प्रकृतियो की सत्ता कही गई है, उसी प्रकार मिश्र मोहनीय की उद्वेलना करने वाले को (जहाँ १४२, १४०, १३८, और १३७ की सत्ता होती है, ऐसा कहा है, वहाँ) १४१, १३९, १३७, और १३६ की सत्ता समझनी चाहिए।

देवगति—इस गति मे अनेक जीवों की अपेक्षा विचार करे तो तीर्थङ्कर नामकर्म और नरकायु—इन दो के सिवाय इस गुणस्थान मे

१४६ की और एक जीव की अपेक्षा १४५ की और अवद्धायुष्क को १४४ की तथा आहारक चतुष्क की सत्ता से रहित पूर्ववद्धायु अनेक जीवों की अपेक्षा १४२ और एक जीव की अपेक्षा १४१ की एव अवद्धायुष्क को १४० प्रकृतियों की सत्ता होती है।

इस प्रकार पहले मिथ्यात्व गुणस्थान मे अनादि मिथ्यादृष्टि और सादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा १२७, १२६, १३०, १३१, १३६, १३७, १३८, १३६, १४०, १४१ १४२, १४३, १४४, १४५, १४६, १४७ और १४८ इन सत्रह सत्तास्थानों का विचार किया गया। अव दूसरे सासादन गुणस्थान मे कर्म प्रकृतियों की सत्ता का वर्णन करते है।

(२) **सासादन गुणस्थान**—इस गुणस्थान मे कर्म प्रकृतियो की सत्ता के बारे मे यह विशेष रूप से समझना चाहिए कि—

(१) इस गुणस्थान मे तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता नही होती है।

(२) जिनके देवद्विक, नरकद्विक और वैक्रियचतुष्क सत्ता मे हों वे ही इस गुणस्थान मे आते है तथा आहारक चतुष्क की सत्ता वाले भी आते है।

(३) यह गुणस्थान ऊपर से नीचे गिरने वाले को ही होता है।

इस गुणस्थान में सामान्य से पूर्वबद्धायु और अवद्धायु—इन दो प्रकार के जीवों के द्वारा सत्ता का कथन किया जाएगा। उनमे भी आहारक चतुष्क की सत्ता वाले और आहारक चतुष्क की सत्ता रहित—इस प्रकार चार भेद हो जाते है। अर्थात् सासादन गुणस्थानवर्ती जीव चार प्रकार के होते है—(१) आहारक चतुष्क की सत्ता सहित पूर्वबद्धायु सासादनी, (२) आहारक चतुष्क की सत्ता सहित

अबद्धायुष्क सासादनी, (३) आहारक चतुष्क की सत्ता रहित पूर्वबद्धायु सासादनी और (४) आहारक चतुष्क की सत्ता रहित अबद्धायु सासादनी।

इन भेदों मे निम्नलिखित प्रकार से कर्म प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(१) आहारक चतुष्क की सत्ता सहित पूर्वबद्धायु सास्वादन गुणस्थानवर्ती जीवों मे अनेक जीवों की अपेक्षा १४७ की और एक जीव की अपेक्षा अन्य गति की आयु बाँधने वाले को १४५ की और उसी गति की आयु बाँधने वाले को १४४ की और अनेक जीवों की अपेक्षा १४५ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(२) आहारक चतुष्क की सत्ता सहित अबद्धायु सास्वादन गुणस्थानवर्ती जीवो में अनेक जीवों की अपेक्षा १४७ की और एक जीव की अपेक्षा १४४ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(३) आहारक चतुष्क की सत्ता रहित पूर्वबद्धायु सास्वादन गुणस्थानवर्ती जीवों मे अनेक जीवों की अपेक्षा १४३ की, एक जीव की अपेक्षा अन्य गति की आयु बाँधने वाले को १४१ की तथा उसी गति की आयु बाँधने वाले को १४० की तथा अनेक जीवों की अपेक्षा १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(४) आहारक चतुष्क की सत्ता रहित अबद्धआयु सास्वादन गुणस्थानवर्ती जीवो मे अनेक जीवों की अपेक्षा १४३ की और एक जीव की अपेक्षा १४० प्रकृतियो की सत्ता होती है।

सामान्य से प्रकृतियों की सत्ता बतलाने के बाद अब गतियों की अपेक्षा सास्वादन गुणस्थानवर्ती जीवों को प्रकृतियों की सत्ता बतलाते

नरकगति—इस गति मे अनेक जीवो की अपेक्षा पूर्ववद्धायु के १४६ की, एक जीव की अपेक्षा १४५ की और अबद्धायु को १४४ प्रकृतियो की सत्ता होती है। आहारक चतुष्क की सत्ता न हो तो अनुक्रम से १४२, १४१ और १४० की सत्ता होती है।

नरकगति के अनुसार ही तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति में भी सास्वादन गुणस्थान वाले जीवों के प्रकृतियों की सत्ता समझनी चाहिए।

इस प्रकार सास्वादन गुणस्थान मे १४०, १४१, १४२, १४३, १४४ १४५, १४६ और १४७, प्रकृतियों की सत्ता होती है। अव आगे मिश्र गुणस्थान मे कर्म प्रकृतियों की सत्ता वतलाते है।

(३) **मिश्र गुणस्थान**—सास्वादन गुणस्थान के अनुसार ही इ गुणस्थानवर्ती जीवों के प्रकृतियों की सत्ता समझनी चाहिए। लेकि सास्वादन गुणस्थान ऊपर-ऊपर के गुणस्थान से गिरने वाले को होता है, जवकि मिश्रगुणस्थान चढ़ने वाले जीवों को भी होता है।

मिश्र गुणस्थान मे आहारक चतुप्क की सत्ता सहित और आहार चतुप्क की सत्ता रहित—इन दो भेदों के द्वारा प्रकृतियों की सत्ता स्पष्ट करते हैं।

(१) आहारक चतुष्क की सत्ता सहित मिश्र गुणस्थानवर्ती जीवो अनेक जीवो की अपेक्षा पूर्ववद्धायु के १४७ की और अन्य एक प्रकार की गति की आयु को वॉधने वाले जीवो की अपेक्षा १४५ और उसी गति की आयु वॉधने वाले अनेक जीवों की अपेक्षा १ और एक जीव की अपेक्षा १४४ प्रकृतियों की सत्ता होती है त जिन्होंने अनन्तानुवन्धी कपाय चतुष्क की विसयोजना की हो तो उ

लिए चार प्रकृतियाँ कम गिननी चाहिए, अर्थात् १४७,१४५,१४४ के बदले १४३,१४१ और १४० प्रकृतियों की सत्ता समझानी चाहिए। आहारक चतुष्क की सत्तावालों के इस गुणस्थान में सम्यक्त्व मोहनीय अवश्य सत्ता में होती है। अबद्धायुष्क अनेक जीवों की अपेक्षा १४७ की और एक जीव की अपेक्षा १४४ की तथा विसंयोजना करने वालों को क्रमशः १४३ की और १४० प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(२) आहारक चतुष्क की सत्ता रहित मिश्र गुणस्थानवर्ती जीवों में अनेक जीवों की अपेक्षा पूर्व बद्धायुष्क को १४३ की, अबद्धायुष्क को १४३ की तथा एक जीव की अपेक्षा बद्धायुष्क को १४० की तथा अबद्धायुष्क को भी १४० प्रकृतियों की सत्ता होती है।

पहले गुणस्थान में सम्यक्त्व मोहनीय की उद्वेलना करने के बाद मिश्र मोहनीय की उद्वेलना करके इस गुणस्थान मे आये तो उसकी अपेक्षा एक एक प्रकृति कम होती है। अर्थात् पहले जहाँ १४३, १४१ और १४० की सत्ता कही जाती है, वहाँ अनुक्रम से १४२, १४० और १३९ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क की विसयोजना करने वाले को चार प्रकृतियां कम समझनी चाहिए। अर्थात् जहाँ १४३,१४१ ओर १४० की सत्ता कही गई है, वहाँ अनुक्रम से १३९, १३८ और १३७ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

सम्यक्त्व मोहनीय की सत्ता रहित को अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना नहीं होती है। क्योंकि सम्यक्त्व मोहनीय की मिथ्यात्व की सत्ता रहने पर पहले गुणस्थान मे ही उद्वेलना होती है और, वहाँ अनन्तानुबन्धी की विसयोजना नही होती है परन्तु वहाँ उस सत्ता-... जाने के भी उसकी सत्ता होती है और ऐसे जीव मिश्र मोहनीय

की उद्वेलना कर कदाचित् मिश्र गुणस्थान मे आते है और विसयोजक तो ऊपर के गुणस्थान से आते है और वहाँ मिथ्यात्व की सत्ता होने पर भी सम्यक्त्व मोहनीय की उद्वेलना करने वा। विसंयोजक नही होता है।

अब चारों गतियों की अपेक्षा मिश्र गुणस्थान मे कर्म प्रकृतियो की सत्ता बतलाते है।

नरकगति—इस गति में सत्ता तो पूर्वोक्त क्रमानुसार ही होती है। परन्तु इस गति मे देवायु की सत्ता नही होती है। अतः जहा देवायु को गिना गया हो, वहाँ एक प्रकृति कम गिननी चाहिए। जैसे कि अनेक जीवों की अपेक्षा १४७ प्रकृतियों की सत्ता बतलाई गई है, उसकी वजाय १४६ प्रकृतियों की सत्ता माननी चाहिए।

इसी प्रकार तिर्यचगति और मनुष्यगति में भी प्रकृतियों की सत्ता समझनी चाहिए। देवगति में यह विशेषता समझनी चाहिए कि इस गति मे नरकायु की सत्ता नही होती है, किन्तु देवायु की सत्ता होती है। शेष नरकगति के अनुसार समझना चाहिए।

इस प्रकार मिश्र गुणस्थान मे १३७, १३८, १३९, १४०, १४१, १४२, १४३, १४४, १४५, १४६, १४७ ये सत्तास्थान होते है।

(४) **अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान**—इस गुणस्थान मे सामान्य में १४८ प्रकृतियों की सत्ता होती है तथा एक जीव की अपेक्षा अन्य गति की आयु बाँधने वाले को सामान्यत १४६ की और अपनी ही गति की आयु बाँधने वाले को १४५ प्रकृतियों की सत्ता है।

सामान्यत पूर्वोक्त सत्ता तो सभी प्रकार के सम्यक्त्वो जीवो की अपेक्षा कही है। परन्तु सम्यक्त्व के भेदानुसार सत्ता का विचार करने पर तो उपशम सम्यग्दृष्टि, क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि और क्षायिक

म्यग्दृष्टि—इन तीन प्रकार के सम्यग्दृष्टि जीवों की अपेक्षा सत्ता
ा विचार करना पड़ेगा।

उक्त सम्यग्दृष्टि के तीन भेदों मे से सबसे पहले उपशम सम्यक्त्वी
अविरत सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा कर्म प्रकृतियों की सत्ता का विचार
करते हैं।

मोहनीय कर्म का उपशम करने वाले जीवों को उपशम सम्यग्दृष्टि
कहते है। उनके दो भेद है—(१) अविसयोजक, (२) विसंयोजक।

अविसंयोजक—इन जीवों मे अविसंयोजक अनेक जीवों की अपेक्षा
पूर्व वद्धायु जीवों के १४८ की और एक जीव की अपेक्षा अन्य गति के
वद्धायुष्क को १४६ की तथा उसी गति की आयु वॉधने वाले को १४५
की और अवद्धायुष्क अनेक जीवों की अपेक्षा १४८ तथा एक जीव की
अपेक्षा १४५ प्रकृतियो की सत्ता होती है। यहाँ यह विशेष समझना
चाहिए कि जिनके तीर्थङ्कर नामकर्म सत्ता मे न हो तो उनके एक
प्रकृति कम समझना चाहिए। अर्थात् १४८, १४६ और १४५ के वदले
क्रमश १४७, १४५ और १४४ प्रकृतियों का कथन करना चाहिए।
यदि आहारक चतुष्क की सत्ता न हो तो १४८, १४६ और १४५ के
वदले १४४, १४२ और १४१ प्रकृतियों की सत्ता समझना और तीर्थ-
ङ्कर नामकर्म और आहारक चतुष्क सत्ता मे न हों तो अनुक्रम से
१४८, १४६ और १४५ के वदले १४३, १४१ और १४० प्रकृतियों की
सत्ता समझना चाहिए।

विसंयोजक—अनन्तानुवन्धी चतुष्क सत्ता में न हो तो भी उसका
[illegible] कारण मिथ्यात्व सत्ता में हो तो उसे विसंयोजक कहते है। अत.
[illegible] विसंयोजक अनेक जीवों की अपेक्षा अनन्तानुवन्धी चतुष्क के विना
[illegible] १४४ प्रकृतियो की सत्ता होती है। एक जीव की अपेक्षा अन्य गति

की आयु बाँधने वाले को १४२ की और उसी गति की आयु बाँधने वाले को १४१ की तथा अबद्धायुष्क अनेक जीवों की अपेक्षा १४४ की और एक जीव की अपेक्षा १४१ प्रकृतियो की सत्ता होती है।

यहाँ यह विशेष समझना चाहिए कि तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता न हो तो १४४, १४२ और १४१ के बदले क्रमश. १४३, १४१ और १४० प्रकृतियों की सत्ता तथा आहारक चतुष्क की सत्ता न हो तो १४४ १४२ और १४१ के बदले अनुक्रम से १४०, १३८ और १३७ प्रकृतियों की सत्ता समझना चाहिए। यदि तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारक चतुष्क कुल पॉच प्रकृतियों की सत्ता न हो तो १३९, १३७ और १३ प्रकृतियो की सत्ता समझना चाहिए।

अब क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा कर्म प्रकृतियों की सत्ता का कथन करते है।

उदय प्राप्त मिथ्यात्व मोहनीय और अनन्तानुबन्धी क्रोधादि के क्षय तथा अनुदय के उपशम से आत्मा मे होने वाले परिणाम विशेष को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते है, और इसके लिए प्रयत्न करने वालो को क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि कहते है। इनके भी दो प्रकार हैं—(१) विसयोजक, (२) अविसयोजक। इनके भी औपशमिक सम्यग्दृष्टि को बतलाई गई सत्ता के अनुसार प्रकृतियो की सत्ता समझना चाहिये। किन्तु जब अनन्तानुबन्धी चतुष्क की सत्ता विहीन आत्मा मिथ्यात्व मोहनीय की उद्वेलना कर डालती है, तब पूर्व बद्धायु अनेक जीवों की अपेक्षा १४३ की, एक जीव की अपेक्षा अन्य गति की आयु बाँधने वाले को १४१ की और उसी गति की आयु बाँधने वाले को १४० की तथा अबद्धायुष्क को भी १४० प्रकृतियो की सत्ता होती है।

यदि तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता न हो तो १४३, १४१ और १४० के बजाय अनुक्रम से १४२, १४० और १३९ की और आहारक चतुष्क सत्ता में न हो तो १४३, १४१ और १४० के बदले १३९, १३७ और १३६ प्रकृतियो की सत्ता होती है। यदि तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारक चतुष्क—कुल ये पाँच प्रकृतियाँ सत्ता मे न हों तो १४३, १४१ तथा १४० के बदले १३८, १३६ और १३५ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

यदि उपर्युक्त सभी विकल्प वालों ने मिश्र मोहनीय की उद्वेलना की हो तो उनके अनन्तानुवन्धी चतुष्क, मिथ्यात्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय के विना अनेक जीवो की अपेक्षा पूर्वबद्धायुष्क को १४२ की, एक जीव की अपेक्षा अन्य गति की आयु बाँधने वाले को १४० की तथा उसी गति की आयु बांधो हो तो १३९ की व अबद्धायुष्क को भी १३९ की सत्ता होती है। जिसको तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता न हो, उसे अनुक्रम से १४१, १३९ और १३८ की सत्ता तथा आहारक चतुष्क न हो तो क्रमश. १३८, १३६ और १३५ प्रकृतियाँ सत्ता में होती है। आहारक चतुष्क और तीर्थङ्कर नामकर्म ये पांच प्रकृतियाँ सत्ता मे न हों तो १४२, १४० और १३९ के बदले क्रमश. १३७, १३५ और १३४ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

अब क्षायिक सम्यक्त्वी की अपेक्षा चौथे गुणस्थान में प्रकृतियों की सत्ता वतलाते है।

अनन्तानुवन्धी कषाय चतुष्क और मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय—इन सात प्रकृतियों के क्षय से होने वाले परिणाम को क्षायिक सम्यक्त्व कहते है और इस प्रकार के परिणाम वाले जीवों को क्षायिक सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि को अनेक जीवों की अपेक्षा पूर्वबद्धायुष्क को १४१ की और एक जीव की अपेक्षा अन्य गति की आयु बाधने वाले को १३६ की और उसी गति की आयु बाँधने वाले को १३८ की तथा अबद्धायुष्क को भी १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

यदि तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता न हो तो १४१, १३६ और १३७ के वदले क्रमशः १४०, १३८ और १३६ प्रकृतियों की सत्ता होती है। यदि आहारक चतुष्क सत्ता में न हो तो १४१, १३६ और १३८ के वदले १३७, १३५ और १३४ की तथा तीर्थंकर नामकर्म और आहारक चतुष्क कुल पाँच प्रकृतियाँ सत्ता में न हों तो १४१, १३६ और १३८ के वदले क्रमशः १३६, १३४ और १३३ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

औपशमिक आदि तीनों प्रकार के सम्यक्त्व की अपेक्षा चौथे गुणस्थान में कर्म प्रकृतियों की सत्ता बतलाने के अनन्तर अब गतियों की अपेक्षा कर्म प्रकृतियों की सत्ता का कथन करते है।

नरकगति—इस गति की कुछ अपनी विशेषताएँ है। जैसे कि इस गति के जीवो के देवायु की सत्ता नही होती है। जिनको तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता होती है, उनके आहारक चतुष्क की सत्ता नही होती है और जिनके आहारक चतुष्क की सत्ता होती है, उनको तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता नही होती है। क्षायि[illegible] नवीन प्राप्त नही करते है तथा मिथ्यात्व और मिश्र म[illegible] उद्वेलना नही करते है। यदि पूर्व भव में सम्यक्त्व म[illegible] उद्वेलना करते समय मरण हो और पूर्व में नरकायु [illegible] तो नरक गति मे आकर उद्वेलना की क्रिया पूरी क[illegible] सम्यक्त्व मोहनीय के उद्वेलक होते है किन्तु उद्वे[illegible] था। शुरूआत नही करते है।

इस गति के उपशम सम्यक्त्वी अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान वालों मे पूर्व बद्धायुष्क अनेक जीवों की अपेक्षा देवायु की सत्ता न होने से १४७ की और यदि एक ही प्रकार की आयु का बन्ध किया हो तो इसमे अनेक जीवों की अपेक्षा १४६ की तथा अबद्धायु को १४५ की एवं तीर्थङ्कर नामकर्म को सत्ता वाले ऐसे अनेक जीवों की अपेक्षा देवायु और आहारक चतुष्क के बिना पूर्वबद्धायु वालों के १४३ की, एक जीव की अपेक्षा १४२ की और अबद्धायुष्क के १४१ की और आहारक चतुष्क की सत्ता वाले पूर्वबद्धायु अनेक जीवों की अपेक्षा तीर्थङ्कर नामकर्म और देवायु के सिवाय १४६ की और एक जीव की अपेक्षा १४५ की तथा अबद्धायुष्क को १४४ प्रकृतियो की सत्ता होती है।

यदि तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारक चतुष्क सत्ता मे न हो तो पूर्व बद्धायुष्क अनेक जीवो की अपेक्षा तीर्थकर नामकर्म, आहारक चतुष्क और देवायु इन छह प्रकृतियों के सिवाय १४२ की और एक जीव की अपेक्षा १४१ की तथा अबद्धायुष्क के १४० प्रकृतियो की सत्ता होती है।

ये जीव विसयोजक नही होते है। क्योंकि उपशम श्रेणि का उपशम सम्यक्त्व जिनको होना है वे उपशम सम्यक्त्वी विसयोजक हो सकते है। अन्य जीव उपशम सम्यक्त्व में विसंयोजक नही होते है। नरक गति के जीवो के तीन करण करने से ही नवीन उपशम सम्यक्त्व होता है, परन्तु श्रेणि वाला नही होता है। अतः वे विसंयोजक नही होते है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी अविरत सम्यग्दृष्टि जीव अविसंयोजक और विसंयोजक—दो प्रकार के होते है। उपशम सम्यग्दृष्टि को बताई गई सत्ता के अनुसार इन जीवों के सत्ता समझना चाहिए।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि को अनेक जीवों की अपेक्षा पूर्वबद्धायुष्क को १४१ की और एक जीव की अपेक्षा अन्य गति की आयु बाधने वाले को १३९ की और उसी गति की आयु बाँधने वाले को १३८ की तथा अबद्धायुष्क को भी १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

यदि तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता न हो तो १४१, १३९ और १३७ के बदले क्रमशः १४०, १३८ और १३६ प्रकृतियों की सत्ता होती है। यदि आहारक चतुष्क सत्ता में न हो तो १४१, १३९ और १३८ के बदले १३७, १३५ और १३४ की तथा तीर्थंकर नामकर्म और आहारक चतुष्क कुल पाँच प्रकृतियाँ सत्ता में न हों तो १४१, १३९ और १३८ के बदले क्रमशः १३६, १३४ और १३३ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

औपशमिक आदि तीनों प्रकार के सम्यक्त्व की अपेक्षा चौथे गुणस्थान में कर्म प्रकृतियों की सत्ता बतलाने के अनन्तर अब गतियों की अपेक्षा कर्म प्रकृतियों की सत्ता का कथन करते है।

नरकगति—इस गति की कुछ अपनी विशेषताएँ है। जैसे कि इस गति के जीवों के देवायु की सत्ता नही होती है। जिनको तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता होती है, उनके आहारक चतुष्क की सत्ता नही होती है और जिनके आहारक चतुष्क की सत्ता होती है, उनको तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता नही होती है। क्षायिक सम्यक्त्व नवीन प्राप्त नही करते है तथा मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय की उद्वेलना नहीं करते है। यदि पूर्व भव मे सम्यक्त्व मोहनीय कर्म की उद्वेलना करते समय मरण हो और पूर्व मे नरकायु का बंध किया हो तो नरक गति मे आकर उद्वेलना की क्रिया पूरी करते है। इसलिए सम्यक्त्व मोहनीय के उद्वेलक होते है किन्तु उद्वेलना करने की क्रिया की शुरुआत नही करते है।

इस गति के उपशम सम्यक्त्वी अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान वालों में पूर्व वद्धायुष्क अनेक जीवों की अपेक्षा देवायु की सत्ता न होने से १४७ की और यदि एक ही प्रकार की आयु का वन्ध किया हो तो इनमें अनेक जीवों की अपेक्षा १४६ की तथा अवद्धायु को १४५ की एवं तीर्थङ्कर नामकर्म को सत्ता वाले ऐसे अनेक जीवों की अपेक्षा देवायु और आहारक चतुष्क के विना पूर्ववद्धायु वालों के १४३ की, एक जीव की अपेक्षा १४२ की और अवद्धायुष्क के १४१ की और आहारक चतुष्क की सत्ता वाले पूर्ववद्धायु अनेक जीवों की अपेक्षा तीर्थङ्कर नामकर्म और देवायु के सिवाय १४६ की और एक जीव की अपेक्षा १४५ की तथा अवद्धायुष्क को १४४ प्रकृतियो की सत्ता होती है।

यदि तीर्थङ्कर नामकर्म ओर आहारक चतुष्क सत्ता में न हो तो पूर्व वद्धायुष्क अनेक जीवों की अपेक्षा तीर्थकर नामकर्म, आहारक चतुष्क और देवायु इन छह प्रकृतियों के सिवाय १४२ की और एक जीव की अपेक्षा १४१ की तथा अवद्धायुष्क के १४० प्रकृतियों की सत्ता होती है।

ये जीव विसयोजक नही होते है। क्योकि उपशम श्रेणि का उपशम सम्यक्त्व जिनको होता है वे उपशम सम्यक्त्वी विसयोजक हो सकते है। अन्य जीव उपशम सम्यक्त्व मे विसंयोजक नही होते है। नरक गति के जीवो के तीन करण करने से ही नवीन उपशम सम्यक्त्व होता है, परन्तु श्रेणि वाला नही होता है। अतः वे विसंयोजक नही होते है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी अविरत सम्यग्दृष्टि जीव अविसंयोजक और विसंयोजक—दो प्रकार के होते है। उपशम सम्यग्दृष्टि को बताई गई सत्ता के अनुसार इन जीवों के सत्ता समझना चाहिए।

परन्तु यह विशेषता है कि जो जीव सम्यक्त्व मोहनीय की उद्वेलन कर यहाँ आये हों तो ऐसे अनेक जीवो की अपेक्षा देवायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु, मिथ्यात्व मोहनीय और अनन्तानुवन्धी चतुष्क ये प्रकृतियाँ सत्ता मे नही होती है। क्योकि उनके आगामी भव की आयु का वन्ध अपनी आयु के छह माह बाकी रहे तव होता है। जब सम्यक्त्व मोहनीय का उद्वेलन करते हुए मर कर आया हुआ जीव अल्प समय मे ही क्षायिक सम्यक्त्वी होता है। यद्यपि ('क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी सम्यक्त्व वमन करने के बाद ही नरकगति मे आता है' ऐसा कहा गया है, परन्तु सम्यक्त्व मोहनीय की उद्वेलना करने वाला सम्यग्दृष्टि चारों गति में जाता है, ऐसा छठे कर्मग्रन्थ मे भी कहा गया है, उससे किसी प्रकार का विसंवाद नही समझना चाहिए। किन्तु सम्यक्त्व मोहनीय आदि प्रकृतियों की उद्वेलना करने वाला क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने की तैयारी करता है और उसकी अपेक्षा उसे भी क्षायिक सम्यक्त्वी कहा जाता है।)

इसलिए सम्यक्त्व मोहनीय के उद्वेलक ऐसे सब नारकी जीवों की अपेक्षा १३९ प्रकृतियों की सत्ता होती है। एक जीव की अपेक्षा आहारक चतुष्क की सत्ता रहित तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता वाले के १३५ की तथा तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता रहित आहारक चतुष्क की सत्ता वाले के १३८ की सत्ता होती है। परन्तु तीर्थंकर नामकर्म तथा आहारक चतुष्क की सत्ता से रहित जीवो के १३४ की सत्ता होती है।

क्षायिक सम्यक्त्वी अविरत सम्यग्दृष्टि नारकी जीवों के दर्शन सप्तक सत्ता मे होता ही नही है तथा चौथे गुणस्थान से कभी भी नही गिरने के कारण मनुष्यायु का ही वन्ध करते है। अत. शेष तीन आयु इनको होती ही नही है। इसलिए उक्त नौ प्रकृतियो के

सिवाय अनेक जीवों की अपेक्षा पूर्व वद्धायुष्क जीवों के १३९ की और अवद्धायुष्क के १३८ प्रकृतियो की सत्ता होती है। यदि तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता रहित जीव पूर्ववद्धायुष्क हों तो १३८ की तथा अवद्धायुष्क हो तो १३७ प्रकृतियों की सत्ता होती है। यदि तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता वाले हो तो आहारक चतुष्क के बिना पूर्ववद्धायुष्क के १३५ की तथा अवद्धायुष्क के १३४ की तथा तीर्थंकर नामकर्म और आहारक चतुष्क ये पाँच प्रकृतियाँ न हों तो पूर्ववद्धायुष्क के १३४ की और अवद्धायुष्क के १३३ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

तिर्यंचगति—इस गति वाले जीवों के तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता होती ही नही है। इसलिए उपशम सम्यक्त्वी अनेक जीवों की अपेक्षा पूर्ववद्धायुष्क को १४७ की, अन्य गति के आयुबन्धक को एक जीव की अपेक्षा १४५ की, अवद्धायुष्क तथा उसी गति के आयुबन्धक को १४४ की तथा आहारक चतुष्क की सत्ता न हो तो १४७, १४५ और १४४ के वदले १४३, १४१ और १४० प्रकृतियों की सत्ता समझनी चाहिए।

तिर्यंचगति मे अविसंयोजक और विसयोजक—ये दो प्रकार नहीं होते है। क्योंकि पहले गुणस्थान मे तीन करण करने से जो उपशम सम्यक्त्व प्राप्त होता है वह सम्यक्त्व तिर्यंचों को होता है, परन्तु श्रेणि का सम्यक्त्व नहीं होता है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी तिर्यंचों के पूर्ववद्धायुष्क अनेक जीवों की अपेक्षा १४७ की और एक जीव के यदि अन्य गति की आयु बांधी हो तो १४५ की और उसी गति की आयु बांधने वाले तथा अवद्धायुष्क को १४४ प्रकृतियों की सत्ता होती है। यदि आहारक चतुष्क सत्ता में न हो तो १४७, १४५ और १४४ के बदले क्रमशः [illegible]

और १४० प्रकृतियाँ सत्ता मे होती हैं। मिथ्यात्व और मिश्रमोहनीय सत्ता में न हों तो १३८ की सत्ता होती है।

क्षायिक सम्यक्त्वी को पूर्वोक्त १३८ प्रकृतियो मे से सम्यक्त्व मोहनीय के बिना अवद्धायुष्क को १३७ की तथा आयु बाँधने वाले को १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है। ये आयु बाँधने वाले देवायु को ही बाँधते है। यदि आहारक चतुष्क की सत्ता रहित हों तो १३८ और १३७ के बदले १३४ और १३३ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

मनुष्यगति—उपशम सम्यक्त्वी को प्रारम्भ में बतलाई गई सत्ता के अनुसार ही सत्ता होती है, परन्तु अबद्धायुष्क को जो १४८ प्रकृतियो की सत्ता कही गई है, वह चारों गतियों की अपेक्षा कही गई है। परन्तु यहाँ मनुष्यगति की अपेक्षा से विचार किया जा रहा है। अत १४५ प्रकृतियो की सत्ता होती है। इसी प्रकार क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्वी के भी विशेषता समझना चाहिए। अन्य सब में उसी प्रकार सत्ता समझ लेनी चाहिए।

देवगति--नरकगति के समान ही इस गति मे प्रकृतियो की सत्ता समझना चाहिए। परन्तु विसंयोजक की अपेक्षा १४२, १४१, १४०, १३९ और १३८—ये पाँच सत्तास्थान अधिक होते है।

इस प्रकार चौथे गुणस्थान मे १३३, १३४, १३५, १३६, १३७, १३८, १३९, १४०, १४१, १४२, १४३, १४४, १४५, १४६, १४७ और १४८—ये सोलह सत्ता विकल्प समझना चाहिए।

(५) **देशविरति गुणस्थान**—चौथे गुणस्थान के अनुसार ही इस गुणस्थान मे भी सोलह सत्ता विकल्प होते है। परन्तु विशेपता यह है कि यह गुणस्थान तिर्यंचगति और मनुष्यगति के जीवो को ही होता है।

अतः जहाँ-जहाँ अबद्धायुष्क के प्रसग मे सत्ता बतलाते हुए चारों आयु सत्ता मे मानी गई है, वहाँ सिर्फ तिर्यंचायु और मनुष्यायु—ये दो आयु ही गिनना चाहिए।

जैसे अविरत सम्यग्दृष्टि पूर्व बद्धायुष्क उपशम अथवा क्षायोपशमिक अविसयोजक के अनेक जीवो की अपेक्षा १४८ प्रकृतियो की सत्ता मानी जाती है, उसके बदले इस गुणस्थान मे नरकगति और देवगति नही होने से—ये दो गतियाँ नही होती है। इसलिए १४६ प्रकृतियो की सत्ता समझना चाहिए और क्षायिक सम्यग्दृष्टि के तिर्यचायु भी नही होने से १३८ प्रकृतियों की सत्ता समझना चाहिए।

तिर्यचगति—चौथे गुणस्थान के समान ही ये जीव क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि होते है, परन्तु जो जीव मिथ्यात्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय का क्षय करके इस गति मे आये हों तो उन्होंने जो सत्ता कम की हो, वह इस गुणस्थान मे नही होती है। क्योकि ऐसे जीव असख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यंच मे उत्पन्न होते है और वे पाँचवाँ गुणस्थान प्राप्त नही करते है तथा क्षायिक सम्यक्त्व भी नही होता है। इसलिए क्षायिक सम्यक्त्व की भी सत्ता यहाँ नही समझना चाहिए। यहाँ तो सिर्फ उपशम तथा क्षायोपशमिक, अविसयोजक और विसयोजक से सम्बन्धित सत्ता समझना चाहिए।

(६) प्रमत्तसंयत गुणस्थान—यहाँ भी १४८, १४७, १४६, १४५, १४४, १४३, १४२, १४१, १४०, १३९, १३८, १३७, १३६, १३५, १३४ और १३३ ये सोलह सत्तास्थान हो सकते है और यह गुणस्थान मनुष्य को होता है, अतः जिस-जिस स्थान पर अबद्धायुष्क के आश्रय से अनेक जीवों की अपेक्षा १४८ की सत्ता कही गई हो, वहाँ [illegible] प्रकृतियों की सत्ता समझना चाहिए। क्योंकि यह गुणस्थान मनुष्य को ही

होता है। अन्य सब सत्तास्थान चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में बताई गई प्रकृतियों की सत्ता के अनुसार ही समझना चाहिए।

(७) **अप्रमत्त गुणस्थान**—इस गुणस्थान मे भी छठे प्रमत्तसयत गुणस्थान के समान १४८, १४७, १४६, १४५, १४४, १४३, १४२, १४१, १४०, १३६, १३८, १३७, १३६, १३५, १३४ और १३३—ये सोलह सत्तास्थान होते है।

(८) **अपूर्वकरण गुणस्थान**—मनुष्य, तिर्यंच और नरकायु के वन्ध वाले और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव इस गुणस्थान मे नही होते है। इस गुणस्थान के सामान्यतया तीन प्रकार है—

(१) उपशम सम्यक्त्वी, उपशम श्रेणी वाले जीव।
(२) क्षायिक सम्यक्त्वी, उपशम श्रेणी वाले जीव।
(३) क्षायिक सम्यक्त्वी, क्षयक श्रेणी वाले जीव।

इनमे से उपशम सम्यक्त्वी उपशम श्रेणी वाले जीवों की अपेक्षा प्रकृतियों की सत्ता का कथन करते है।

ये जीव दो प्रकार के होते है—(१) श्रेणी से पतित होने वाले और श्रेणी को मांड़ने वाले। परन्तु इन दोनों की सत्ता मे कोई विशेपता नही है तथा ये दोनो भी अविसयोजक और विसयोजक ऐसे दो प्रकार के होते है। अर्थात् श्रेणि से पतित होने वाले के अविसंयोजक और विसयोजक—ये दो भेद है। इसी प्रकार श्रेणि मांडने वाले के भी अविसंयोजक और विसयोजक—ये दो भेद है

अविसंयोजक—अनेक जीवो की अपेक्षा पूर्व वद्धायुष्क के पूर्व मे बाँधी गई देवायु और उदयमान मनुष्यायु के सिवाय बाकी की दो आयु के बिना १४६ की और एक जीव की अपेक्षा अवद्धायुष्क को

सद्भाव (विद्यमान) सत्ता की दृष्टि से १४५ की और संभव (यदि आयु-बन्ध संभव हो तो उस आयु के साथ) सत्ता की दृष्टि से अनेक जीवों की अपेक्षा अन्यगति की आयु बाँधी हो तो १४६ की और उसी गति की आयु बाँधी हो तो १४५ प्रकृतियों की सत्ता होती है। उनमें भी जो जीव तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता बिना के हों तो उनको १४८, १४६, और १४५ के बदले अनुक्रम से १४७, १४५ और १४४ प्रकृतियों की सत्ता होती है। आहारक चतुष्क की सत्ता न हो तो १४८, १४६ और १४५ के बदले क्रमशः १४४, १४२ और १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती है तथा तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारक चतुष्क—इन पाँच प्रकृतियों की सत्ता रहित जीवों के १४८, १४६ और १४५ के बदले १४३, १४१, और १४० प्रकृतियों की सत्ता होती है।

विसंयोजक—यहाँ भी ऊपर कहे गये अनुसार ही सत्ता समझना, लेकिन उसमें अनन्तानुबन्धी चतुष्क को कम कर देना चाहिए। अर्थात् जहाँ १४८, १४७, १४६, १४५, १४४, १४३, १४२, १४१, और १४० प्रकृतियाँ बताई गई हैं, उनके बदले अनुक्रम से १४४, १४३, १४२, १४१ १४०, १३९, १३८, १३७ और १३६ प्रकृतियों की सत्ता कहना चाहिए।

श्रेणी से गिरने वाले जीवों को इसी प्रकार समझना चाहिए।

(८) क्षायिक सम्यक्त्वी उपशम श्रेणी वालों में अनेक जीवों की अपेक्षा पूर्वबद्धायुष्क जीवों के दर्शन सप्तक और तिर्यंचायु और नरकायु के सिवाय १३९ प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं और अबद्धायुष्क के [illegible] प्रकृतियों की सत्ता होती है। यहाँ आयुष्य का बन्ध होना सम्भव नहीं है। क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने के पूर्व अबद्धायुष्क हो और क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करे तो उसी भव में मोक्ष प्राप्त [illegible] [illegible] सम्भव सत्ता भी नहीं होती है।

यदि तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता न हो तो ऊपर कहे अनुसार १३९ और १३८ के वदले अनुक्रम से १३८ और १३७ की तथा आहारक चतुष्क सत्ता मे न हो तो १३९ और १३८ के वदले १३५ और १३४ की एव तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारक चतुष्क—ये पाँच प्रकृतियाँ सत्ता मे न हों तो १३९ और १३८ के वदले १३४ और १३३ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(३) क्षायिक सम्यक्त्वी क्षपक श्रेणी वाले जीव अबद्धायुष्क ही होते है। अत दर्शन सप्तक और देव, तिर्यच और नरकायु—इन दस प्रकृतियों के बिना उनके १३८ प्रकृतियों की तथा तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता रहित जीवो के १३७ की तथा आहारक चतुष्क की सत्ता रहित जीवो के १३४ की तथा तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारक चतुष्क—इन पाँच प्रकृतियों की सत्ता विना के जीवों के १३३ प्रकृतियो की सत्ता होती है।

इस प्रकार आठवे गुणस्थान मे १४८, १४७, १४६, १४५, १४४, १४३, १४२, १४१, १४०, १३९, १३८, १३७, १३६, १३५, १३४ और १३३—ये सोलह सत्तास्थान होते है।

(९) **अनिवृत्ति वादर संपराय गुणस्थान**—उपशम श्रेणि के लिए उपशम और क्षायिक सम्यक्त्वी—सभी को पहले वतलाये गये १४८, १४७, १४६, १४५, १४४, १४३, १४२, १४१, १४०, १३९, १३८, १३७, १३६, १३५, १३४ और १३३—ये सोलह सत्तास्थान होते है।

क्षपक श्रेणी करने वाले क्षायिक को भी पहले कहे गये अनुसार ही १३८, १३७, १३४ और १३३ ये चार सत्तास्थान होते है। परन्तु अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क और प्रत्याख्यानावरण चतुष्क—इन आठ प्रकृतियो के क्षय होने पर पूर्वोक्त चार विकल्पों के वजाय

[illegible]नुक्रम से १३०, १२९, १२६ और १२५ प्रकृतियों की सत्ता होती है। इनमे से (१) स्थावर, (२) सूक्ष्म, (३) तिर्यंचगति, (४) तिर्यंचानुपूर्वी, (५) नरकगति, (६) नरकानुपूर्वी, (७) आतप, (८) उद्योत, (९) निद्रानिद्रा, (१०) प्रचलाप्रचला, (११) स्त्यानर्द्धि, (१२) एकेन्द्रिय, (१३) द्वीन्द्रिय, (१४) त्रीन्द्रिय, (१५) चतुरिन्द्रिय और (१६) साधारण—इन सोलह प्रकृतियों का क्षय होने पर अनुक्रम [illegible] ११४ ११३, ११० और १०९ प्रकृतियाँ सत्ता में रहती है।

अनन्तर सामान्यतः नपुंसकवेद का क्षय होने पर ऊपर बताये गये [illegible]स्थानो के बदले क्रमशः ११३, ११२, १०९ और १०८ प्रकृतियों की [illegible] रहती है। इनमे से स्त्रीवेद का क्षय होने पर ११२, १११, १०८ और १०७ प्रकृतियो की, इनमें से भी हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा इन छह प्रकृतियों का क्षय हो जाने पर १०६, १०५, १०२ और १०१ प्रकृतियों की और बाद में पुरुषवेद का क्षय होने पर १०५, [illegible], १०१ और १०० प्रकृतियों की सत्ता रहती है।

अब श्रेणीप्रस्थापक की अपेक्षा विचार करते है—

(१) **नपुंसकवेदी श्रेणीप्रस्थापक**—स्त्रीवेद तथा नपुंसकवेद का और [illegible]वेद तथा हास्यादि षट्क का उसी समय क्षय करे तो [illegible]वेद का क्षय होने पर ही ११३, ११२, १०९ और १०८ [illegible]तियो सत्ता मे होती है। हास्यादि षट्क का क्षय होने [illegible] [illegible], १०५, १०२ और १०१ प्रकृति वाले सत्ता विकल्प [illegible] होते है, किन्तु अन्य स्थान पर होने वाले ११३ आदि के विकल्प [illegible] है, परन्तु १०३ प्रकृतियों का सत्तास्थान अन्य [illegible] [illegible]वेदी क्षपक श्रेणीप्रस्थापक को होना ही नहीं है [illegible] [illegible] तो इनके सर्वथा वर्जित है।

(२) **स्त्रीवेदी श्रेणीप्रस्थापक**—पुरुषवेद और हास्यादि षट्क का एक ही समय में क्षय करता है, अतः उस अवसर पर होने वाले १०६, १०५, १०२, और १०१ प्रकृति वाले—ये चार विकल्प सभव नही है। १०६ का विकल्प पूर्वोक्त रीति से सभव नही है। परन्तु अन्य विकल्प तो दूसरे स्थान पर होने से संभव हो सकते है।

(३) **पुरुषवेदी श्रेणीप्रस्थापक**—ऊपर कहे गये अनुसार ही सत्ता-स्थान होते है। प्रासंगिक रूप मे सामान्यतः कथन कर अव विशेप रूप मे विचार करते है।

पहले कहा जा चुका है कि पुरुषवेद का क्षय होने पर १०५, १०४, १०१ और १०० प्रकृतियों के विकल्प शेष रहते है। उनमे से सज्वलन क्रोध क्षय होने पर १०४, १०३, १०० और ९९ प्रकृतियो के ये चार विकल्प होते है। उनमे से सज्वलन मान का क्षय होने पर १०३, १०२, ९९ और ९८—ये चार विकल्प होते है। इसके बाद सज्वलन माया के क्षय से दसवे गुणस्थान की शुरुआत होती है।

इस प्रकार क्षपक को ९८, ९९, १००, १०१, १०२, १०३, १०४, १०५, १०६, १०७, १०८, १०९, ११०, १११, ११२, ११३, ११४, १२५, १२६, १२९, १३०, १३३, १३४, १३७ और १३८—ये कुल २५ सत्तास्थान होते है तथा अनिवृत्ति गुणस्थान मे पूर्वोक्त २५ सत्ता स्थानों मे से ९८ से १३४ तक २३ स्थान तथा १३५, १३६, १३७, १३८, १३९, १४०, १४१, १४२, १४३, १४४, १४५, १४६, १४७ १४८—ये चौदह स्थान और मिलाने से कुल सैंतीस सत्तास्थान सभावित है।

(१०) **सूक्ष्म संपराय गुणस्थान**—इस गुणस्थान मे उपशम श्रेणी वालो को पूर्व गुणस्थान मे कहे गये १३३ से १४८ तक के कुल सोलह

सत्तास्थान होते हैं। क्षपक श्रेणी वाले को नौवें गुणस्थान के अन्त में संज्वलन माया का क्षय होने से तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारकचतुष्क की सत्ता वाले को १०२ की और तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता न हो तो १०१ की और आहारकचतुष्क रहित तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता वाले को ९८ की और तीर्थङ्कर नामकर्म तथा आहारकचतुष्क की भी सत्ता न हो तो ९७ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

इस गुणस्थान के अन्त में संज्वलन लोभ का भी क्षय हो जाता है, तब बारहवाँ गुणस्थान प्रारम्भ होता है।

इस प्रकार दसवें गुणस्थान में ९७, ९८, १०१, १०२ और १३३ से ११८ तक के सोलह स्थान कुल मिलाकर बीस सत्तास्थान होते हैं। क्षपक श्रेणी करने वाला सीधा दसवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान को ही प्राप्त करता है।

(११) उपशान्तमोह गुणस्थान—इस गुणस्थान में भी १३३ से लेकर ११८ तक के सोलह सत्ता विकल्प होते हैं। इस गुणस्थान में आया हुआ जीव अवश्य ही नीचे गिरता है।

(१२) क्षीणमोह वीतराग गुणस्थान—दसवें गुणस्थान के अन्त में संज्वलन लोभ का क्षय होने से क्रमशः १०१, १००, ९७ और ९६ प्रकृति वाले चार विकल्प होते हैं तथा द्विचरम समय में निद्रा और प्रचला का क्षय होने से क्रमशः ९९, ९८, ९५ और ९४ प्रकृति वाले चार विकल्प होते हैं। इसके अनन्तर बारहवें गुणस्थान के अन्त में चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल ये चार दर्शनावरण, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल ये पांच ज्ञानावरण तथा दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य—इन पांच अन्तराय कुल मिलाकर चौदह प्रकृतियों का क्षय होने पर तेरहवें गुणस्थान की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार बारहवे गुणस्थान मे ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९, १०० और १०१—ये आठ विकल्प होते है।

(१३) **सयोगि केवली गुणस्थान**—बारहवे गुणस्थान के अन्त मे चौदह प्रकृतियो के क्षय होने से पूर्व जो ९४, ९५, ९८ और ९९—ये चार विकल्प हुए है, उनमे से चौदह प्रकृतियों के क्षय होने से तेरहवे गुणस्थान मे उक्त चार विकल्पों के बदले ८०, ८१, ८४ और ८५ ये चार विकल्प वाले सत्तास्थान होते है।

यह विशेष समझना चाहिए कि आहारक चतुष्क और तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता वालों को ८५ की, तीर्थकर नामकर्म की सत्ता न हो तो ८४ की, आहारक चतुष्क न हो तो ८१ की और तीर्थङ्कर नामकर्म तथा आहारक चतुष्क कुल पाँच प्रकृतियो की सत्ता न हो तो ८० प्रकृतियो की सत्ता होती है। इस प्रकार इस गुणस्थान मे ८०, ८१, ८४, और ८५ प्रकृतियो वाले चार सत्ता विकल्प होते है।

(१४) **अयोगि केवली गुणस्थान**—इस गुणस्थान मे द्विचरम समय तक पूर्वोक्त ८०, ८१, ८४ और ८५ प्रकृति वाले चार सत्तास्थान होते है। इसके बाद ८५ प्रकृतियो के सत्तास्थान वाले के देवगति, देवानुपूर्वी, शुभ विहायोगति, अशुभ विहायोगति, दो गन्ध, आठ स्पर्श, पाँच वर्ण, पाँच रस, पाँच शरीर, पाँच बन्धन, पाँच सघातन, निर्माण, छह सहनन, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयश कीर्ति, छह संस्थान, अगुरुलघु चतुष्क, अपर्याप्त, साता अथवा असाता वेदनीय मे से कोई एक, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, औदारिक, वैक्रिय और आहारक अगोपाग, सुस्वर और नीचगोत्र इन ७२ प्रकृतियो के क्षय होने पर १३ प्रकृतियां शेप रहती है।

अनन्तर चरम समय में बाकी बची हुई समस्त प्रकृतियों का क्षय कर अनादि सम्बन्ध वाले कार्मणशरीर को छोड़कर जन्म-मरण से मुक्त हो मोक्ष मे अनन्त काल तक विराजमान रहते है।

इस प्रकार चौदह गुणस्थानों में कर्मप्रकृतियों की सत्ता का वर्णन पूर्ण हुआ। विशेष जानकारी के लिए साथ में दिये गये सत्तायन्त्र को देखिए।

कालगणना : जैनदृष्टि

शास्त्रों में काल-सूचक समय, आवली, घडी, मुहूर्त, पल्योपम आदि शब्दों का यथास्थान प्रयोग किया जाता है। इन से यह ज्ञात होता है कि काल एक क्षण मात्र ही नही है, लेकिन क्रमवद्ध धारा प्रवाह रूप से परिवर्तनशील है। आधुनिक वैज्ञानिक भी काल को प्रवाहात्मक मानकर इसके अनेक सूक्ष्म अशों की जानकारी तक पहुँच चुके है। लेकिन आगमों में इन सूक्ष्म अशों के भी अनेक सूक्ष्म अश होने की विवेचना करके उसकी अनन्तता को सिद्ध किया है।

यह विवेचना जिज्ञासुओ को वोधप्रद एव ज्ञातव्य होने से सक्षेप मे प्रस्तुत करते है। विशेष जानकारी के लिए जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति आदि शास्त्र एव आचार्यो के द्वारा रचित ग्रन्थो को देखना चाहिए।

जैनदर्शन मे जीवादि छह द्रव्यो के समूह को लोक कहा है। इन छह द्रव्यो मे एक काल भी है। अन्य जीवादि द्रव्यो का लक्षण, भेद-प्रभेद आदि-आदि के द्वारा जिस प्रकार का सूक्ष्मतम वर्णन किया गया है, उसी प्रकार काल का भी वर्णन किया है।

सर्वप्रथम कालद्रव्य की व्याख्या करते हुए बताया है कि जो द्रव्य [illegible]व-अजीव द्रव्यों पर वरतता है, एव उनकी नवीन, पुरातन आदि [illegible]वस्थाओं के वदलने मे निमित्त रूप से सहायता करता है, उसे काल [illegible]हते है। यद्यपि धर्मादि द्रव्य अपनी नवीन पर्याय उत्पन्न करने में [illegible]य प्रवृत्त होते हैं, तथापि वह पर्याय भी बाह्य सहकारी कारण के [illegible]ना नही होती है और वह सहकारी कारण कालद्रव्य है। कालद्रव्य [illegible] उक्त लक्षण स्वयं काल के शाब्दिक अर्थ से ध्वनित हो जाता है—

कल्यते, क्षिप्यते, प्रेर्यते येन क्रियावद् द्रव्यं स कालः ।[1]

जिसके द्वारा क्रियावान द्रव्य कल्यते······ अर्थात् प्रेरणा किये जाते वह कालद्रव्य है। यह कालद्रव्य न तो स्वय परिणमित [illegible]ता है और न अन्य को अन्य रूप में परिणमाता है, यानी प्रेरक [illegible] अन्य द्रव्यों का परिणमन नही करता है, किन्तु स्वत. नाना [illegible]कार के परिणामों को प्राप्त होने वाले पदार्थों के लिए काल कारण [illegible]ता है।

अब प्रश्न होता है कि कालद्रव्य है; कालद्रव्य का अस्तित्व है? [illegible] कैसे जाना जाये ! तो इसका उत्तर यह है कि समयादिक क्रिया [illegible] की और समयादि द्वारा होने वाले पाक आदिक की समय, [illegible] इत्यादि रूप से अपनी-अपनी रौढ़िक संज्ञा के रहते हुए भी उसमें [illegible] काल, पाककाल इत्यादि रूप से काल संज्ञा का आरोप होता [illegible] और [illegible] संज्ञा से निमित्तभूत मुख्य काल के अस्तित्व का ज्ञान हो [illegible]।

[illegible] कालद्रव्य असंख्यात है और मुख्य काल वर्तना रूप है। इस [illegible] काल के आधार से ही गौण—व्यवहार काल का घड़ी,

---

[1] [illegible] १८/२२२/१२

मिनट, दिन-रात, पक्ष-मास आदि के रूप में और इनके द्वारा परिवर्त रूप मुख्य काल का ज्ञान करते है, यह मुख्य काल एक-एक अणु के रू में लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर विद्यमान है। लोकाकाश के अस ख्यात प्रदेश है। अतः कालाणु भी असख्यात हैं। व्यवहार काल वे सबसे सूक्ष्मतम अंश का नाम समय है, यानी काल गणना का केन्द्र बिन्दु समय है और उसके बाद निमिष, घड़ी, दिन-रात आदि की ह जानकारी करते है। इन समयादि की उत्पत्ति का कारण भी इ मनुष्यलोक में मेरु की नित्य प्रदक्षिणा करने वाले सूर्य-चन्द्र आदि ज्योतिषी देव है। इनकी गति से दिन-रात्रि आदि का व्यवहार मनुष्य लोक मे होता है।

कालद्रव्य के सूक्ष्मतम अश को समय कहते है और समय की परिभाषा यह है कि जिस आकाश प्रदेश पर जो कालाणु अवस्थित है जब उस आकाश प्रदेश को पुद्गल परमाणु मदगति से उल्लघन कर अन्य प्रदेश पर पहुँच जाता है तो उस प्रदेश-मात्र के अतिक्रमण के परिमाण के बराबर जो काल पदार्थ की सूक्ष्म वृत्ति रूप समय है, वह कालद्रव्य की समय रूप पर्याय है।

व्यवहारकाल के भेद

व्यवहारकाल का सबसे सूक्ष्मतम अश समय है। इस 'समय' के पश्चात ही अन्य उत्तरवर्ती काल की गणना होती है। यह गणना इस प्रकार है—

असख्य समय की आवली (आवलिका) होती है और २५६ आवलिका का एक क्षुल्लकभव (सब से छोटी आयु) और कुछ अधिक सत्रह भवो जो साधिक ४४४६ आवलिका प्रमाण होते है, का एक प्राण

श्वासोच्छ्वास होता है। सात प्राण का एक स्तोक, सात स्तोक का एक लव,[1] साढ़े अड़तीस लव की एक घड़ी, दो घड़ी का एक मुहूर्त, तीस मुहूर्त की एक दिन-रात्रि।

एक मुहूर्त मे ६५५३६ क्षुल्लकभव होते है और १६७७७२१६ आवलिकाये होती है। एक दिन-रात्रि के अनन्तर १५ दिन-रात का एक पक्ष, दो पक्ष का एक मास, दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतु का एक अयन (छह माह), दो अयन का एक वर्ष, पांच वर्ष का एक युग, दो युग का एक वर्ष दशक और इस वर्ष दशक के उत्तरोत्तर समय मे १० से गुणा करने पर शत, सहस्त्र, लाख, करोड़, अरब, खरब आदि की संख्या निकलती जाती है, जिसे साधारण तौर सभी जानते है।

लेकिन जैन समय गणित में सामान्य ज्ञान के आगे के समय की गणना करने के लिये पूर्वांग, पूर्व, त्रुटितांग, त्रुटित आदि का नामोल्लेख किया है और उन सबमे अन्तिम नाम शीर्ष प्रहेलिका है। इनमें ८४ लाख वर्षों का एक पूर्वांग होता है और ८४ लाख को ८४ लाख से गुणा करने पर एक पूर्व का प्रमाण निकलता है। जिसमें ७० लाख करोड़ वर्ष होते है। ऐसे २८ बार गुणा करने से ५४ अको पर १४० बिन्दिया आ जाती है, जिसे शीर्ष प्रहेलिका कहते है। यहा गणित संख्यात की सीमा समाप्त हो जाती है और इसके आगे का काल पल्योपम, सागरोपम आदि उपमाओं के द्वारा समझाया है।

[1] [illegible] समय गणित के अनुसार उच्छ्वास, स्तोक, लव का प्रमाण [illegible] समझ सकते है—

[illegible] [illegible] सेकेंड एक उच्छ्वास। ७ उच्छ्वास — [illegible] [illegible] स्तोक। [illegible] स्तोक — [illegible] सेकेंड — लव। [illegible] [illegible] (घड़ी)।

पल्योपम-सागरोपम की व्याख्या

पल्योपम और सागरोपम का शास्त्रो मे अतिसूक्ष्म रूप से विचार किया गया है। जिज्ञासु जन विशेष ज्ञान के लिए शास्त्रो के सम्वन्धित अश देख लेवे ।[1] यहा तो सक्षेप में उनका सकेत किया जा रहा है।

शास्त्रों मे पल्योपम और सागरोपम के काल प्रमाण को उदाहरण द्वारा समझाया गया हैं। उक्त उदाहरण इस प्रकार है—

चार कोस (एक योजन) लम्बा, चौड़ा और गहरा कुँआ एक-दो-तीन यावत सात दिन वाले देवकुरु उत्तारकुरु युगलिको के वालों के असख्य खण्ड करके उन्हे दबाकर इस प्रकार भरा जाये कि वे वाल-खण्ड हवा में न उड़ सके और कूप ठसाठस भर जाये। फिर सौ-सौ वर्ष के वाद एक-एक खण्ड निकाला जाये, निकालते-निकालते जव वह कुआ खाली हो जाये, तव वह एक पल्योपम काल होता है (इसमे असख्य वर्ष लगते है)। तथा दस कोडाकोड़ (१० करोड़ को एक करोड से गुणा करना) पल्योपम का एक सागरोपम होता है। दस कोडाकोड सागरोपम का एक अवसर्पिणी काल और इतने ही काल अर्थात् दस कोड़ाकोड़ सागरोपम का एक उत्सर्पिणी काल होता है। दोनों को मिलाकर वीस कोड़ाकोड सागरोपम का एक कालचक्र कहलाता है। जो भरत और ऐरावत क्षेत्रो मे ही होता है। ऐसे अनन्त कालचक्रो का एक पुद्गल परावर्तन होता है। दूसरे शब्दों मे इसे अनन्तकाल कह सकते है।

१ (क) काल का विचार जम्वूद्वीप पन्नत्ति कालाधिकार मे सगृहीत है।
(ख) अनुयोगद्वार १३८ से १४०।
(ग) प्रवचनसारोद्वार—द्वार १५८ गाथा १०१८—१०२६।

पल्योपम और सागरोपम के उद्धार, अद्धा और क्षेत्र यह तीन भेद हैं। और यह तीनों भेद भी व्यवहार तथा सूक्ष्म के भेद से दो-दो प्रकार के हो जाने से कुल मिलाकर छह भेद हो जाते हैं। उद्धार से द्वीप समुद्रों की, अद्धा भेद के द्वारा कर्मस्थिति आदि की तथा क्षेत्र भेद से दृष्टिवाद में द्रव्यों की गणना की जाती है।

काल के संख्यात, असंख्यात, अनन्त रूप

पुद्गल परावर्तन के रूप में काल अनन्त है, वैसे ही वह संख्यात, असंख्यातात्मक भी है। सामान्यतया जिसकी गिनती की जा सके, उसे संख्यात, संख्यातीत को असंख्यात और जिसका अन्त नहीं है उसे अनन्त कहते हैं। इनमें से संख्यात समय सान्त रूप ही होता है। असंख्यात भी सान्त है, लेकिन अनन्त का व्यय होते हुए भी उसका कभी अन्त नहीं आता है। इसीलिए असंख्यात और अनन्त में यह अन्तर है कि एक-एक संख्या को घटाते जाने पर जिस राशि का अन्त आ जाये अर्थात् जो राशि समाप्त हो जाती है, वह असंख्यात है। और जिस राशि का अन्त नहीं आता, जो राशि समाप्त नहीं होती, उसे अनन्त कहते हैं।

संख्यात, असंख्यात और अनन्त के भेद और उनकी व्याख्या नीचे के अनुसार समझना चाहिए।

संख्यात के तीन भेद हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। [illegible] [illegible] नहीं है। वह तो वस्तु का स्वरूप है, अत दो से [illegible] [illegible] गिनती को गणना कहते हैं यानी एक संख्या को [illegible] [illegible] गणना का प्रारम्भ दो से होता है जैसे दो तीन, [illegible] [illegible] गणना में दो की संख्या को जघन्य संख्यात [illegible] [illegible] उत्कृष्ट में एक कम तक की संख्या को [illegible] [illegible]।

उत्कृष्ट सख्यात का स्वरूप इस प्रकार है—कल्पना से जम्बूद्वीप की परिधि जितने तीन पल्य (कुए) माने जाये अर्थात् प्रत्येक पल्य की परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताइस योजन तीन कोस १२८ घनुष और साढे तेरह अगुल से कुछ अधिक हो। एक एक लाख योजन की लम्बाई चौड़ाई हो। एक हजार योजन की गहराई तथा जम्बूद्वीप की वेदिका जितनी (आठ योजन) ऊँचाई हो। इन तीनों पल्यों के नाम क्रमशः शलाका, प्रतिशलाका एवं महा-शलाका हों।

सर्व प्रथम शलाका पल्य को सरसों से परिपूर्णरूप से भरकर कल्पना से कोई व्यक्ति एक दाना जम्बूद्वीप मे, एक दाना लवण समुद्र मे इस प्रकार प्रत्येक द्वीप समुद्र में डालते-डालते जिस द्वीप या समुद्र मे वे सरसों के दाने समाप्त हो जाये, इतने विस्तार वाला एक अनवस्थित पल्य वनाया जाये फिर उसे सरसो मे भरकर एक दाना शलाका पल्य मे डालकर पहले डाले हुए द्वीप समुद्रो के आगे पूर्ववत डालता जाये इस प्रकार वड़े विस्तार वाले अनवस्थित पल्यो की कल्पना करते हुए एव शलाका पल्य मे एक एक दाना डालते हुए जब शलाका पल्य इतना भर जाये कि उसमे एक दाना भी न समा सके और अनवस्थित पल्य भी पूरा भरा हुआ हो। उस स्थिति मे शलाका पल्य से एक दाना प्रतिशलाका पल्य मे डाले और फिर आगे के द्वीप समुद्रो मे डालता जाये। जव यह शलाका पल्य खाली हो जाये तो फिर उसे पहले की तरह उत्तरोत्तर अधिकाधिक विस्तार वाले नये-नये अनव-स्थित पल्यो की कल्पना करके उन्हे भरे। जव वे पूरे हो जाये तव एक दाना प्रतिशलाका पल्य मे डाल कर शेप दाने द्वीप समुद्र मे डालता हुआ खाली करे। इस प्रकार अनवस्थित से शलाका और अनवस्थित शलाका से प्रतिशलाका पल्य को भर दे।

उसके भरने के बाद एक दाना महाशलाका पल्य में डालकर पूर्व विधि से प्रतिशलाका पल्य को द्वीप समुद्रों में खाली करे। ऐसे अनवस्थित से शलाका, अनवस्थित शलाका से प्रतिशलाका तथा अनवस्थित शलाका-प्रतिशलाका से महाशलाका को भरने पर जब चारों पल्य पूरे भर जाये। तब उनके सरसों के दानों का एक ढेर लगाये। उस ढेर में से यदि एक दाना निकाल लिया जाये तो वह उत्कृष्ट संख्यात है।

असंख्यात के नौ भेद इस प्रकार है—

१. उक्त उत्कृष्ट संख्यात मे यदि एक दाना और मिला दिया जाय तो वह असंख्यात का पहला भेद जघन्य परीतासंख्यात है।

२. पहले और तीसरे भेद के बीच की संख्या असंख्यात का दूसरा भेद मध्यम परीतासंख्यात है।

३. असंख्यात के प्रथम भेद के दानों की जितनी संख्या है, उनका अन्योन्याभ्यास[1] करने पर अर्थात् उनके अलग-अलग ढेर लगाकर फिर उनका परस्पर गुणा करने पर जो संख्या आये, उसमें से एक दाना कम करने पर असंख्यात का तीसरा भेद उत्कृष्ट परीतासंख्यात होता है।

४. असंख्यात के तीसरे भेद की राशि मे एक दाना मिलाने पर असंख्यात का चौथा भेद जघन्य युक्तासंख्यात बनता है। एक आवली के [illegible] असंख्य समय होते हैं।

---

१ अन्योन्याभ्यास और गुणा मे अन्तर—पाच को पाच से गुणा करने पर २५ होते हैं। और अन्योन्याभ्यास करने से ३१२५ होते हैं। [illegible] ५-५-५-५-५ इस तरह पाच को पाच जगह स्थापित करके फिर परस्पर में गुणा किया जाता है जैसे ५×५=२५, २५×५=१२५, १२५×५=६२५, ६२५×५=३१२५।

५. चौथे और छठे के बीच की सख्या को मध्यम युक्तासख्यात कहते है।

६ असख्यात के चौथे भेद की सरसों की राशि को परस्पर गुण करने से प्राप्त राशि में से एक दाना निकालने पर असख्यात का छटवाँ भेद उत्कृष्ट युक्तासख्यात कहलाता है।

७. छठे भेद की सरसों की राशि में एक दाना मिलाने पर जघन्या सख्यातासख्यात कहलाता है।

८. सातवे और नौवें भेद के बीच की सख्या मध्यमासख्याता सख्यात है।

९. सातवे भेद की सर्षपराशि का अन्योन्याभ्यास करने से प्राप्त राशि मे से एक दाना कम करने पर प्राप्त होने वाली राशि उत्कृष्टा सख्यातासख्यात कहलाती है।

अनन्त के आठ भेद इस प्रकार है—

१. असंख्यात के नौवे भेद की सख्या में एक मिलाने पर अनन्त का पहला भेद होता है। जिसे जघन्य परीतानन्त कहते है।

२ अनन्त के पहले और तीसरे भेद के वीच की सख्या मध्यम परीतानन्त कहलाती है।

३. अनन्त के पहले भेद की सख्या का अन्योन्याभ्यास करने से प्राप्त सख्या में से एक कम करने पर अनन्त का तीसरा होता है उसे उत्कृष्ट परीतानन्त कहते है।

४. अनन्त के तीसरे भेद की सख्या मे एक मिलाने पर अनन्त का चौथा भेद जघन्य युक्तानन्त कहलाता है।

५. अनन्त के चौथे और छठे भेद के वीच की संख्या मध्यम युक्तानन्त है।

६. अनन्त के चौथे भेद की संख्या का परस्पर गुणा करने पर प्राप्त संख्या में से एक कम करने पर अनन्त का छठा भेद उत्कृष्ट युक्तानन्त कहलाता है।

७. अनन्त के छठे भेद की संख्या में एक मिलाने से अनन्त का सातवाँ भेद जघन्यानन्तानन्त कहलाता है।

८. जघन्यानन्तानन्त के आगे की सब संख्या अनन्त का आठवाँ भेद मध्यमानन्तानन्त कहलाती है।

यह आठ भेद आगमानुसार है। किन्ही आचार्यों ने उत्कृष्टानन्तानन्त[1] यह नौवाँ भेद माना है किन्तु वह आगम समर्थित न होने से विचारणीय है।

पुद्गल परावर्तन : लक्षण व भेद

यह पहले संकेत किया गया है कि पुद्गल परावर्तन रूप काल अनन्त है। यह अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी के बराबर होता है। अतः उसके सम्बन्ध में यहाँ कुछ विशेष वर्णन करते है।

यह लोक अनेक प्रकार की पुद्गल वर्गणाओ से भरा हुआ है। ये वर्गणाएँ ग्रहणयोग्य भी है और अयोग्य (अग्रहणयोग्य) भी है। अग्रहणयोग्य वर्गणाएँ तो अपना अस्तित्व रखते हुए भी ग्रहण नही की जाती है, लेकिन ग्रहणयोग्य वर्गणाओ मे भी ग्रहण और अग्रहण

1 अनन्त के सातवे भेद की संख्याओं को तीन बार गुणा करे फिर उसमे निम्नलिखित छह अनन्त वस्तुओं को मिलाये —

सिद्ध १. निगोद जीव २. प्रत्येक साधारण वनस्पति, ४. भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों के समय ५. सब पुद्गल परमाणु, ६. अलोकाकाश।

इनको मिलाने के बाद जो राशि प्राप्त हो, उसे तीन बार गुणा करके फिर केवलज्ञान और केवलदर्शन की पर्यायें मिला दी जायें तो उसे उत्कृष्टानन्तानन्त कहेंगे।

रूप दोनों प्रकार की योग्यता होती है। ऐसी ग्रहणयोग्य वर्गणाएँ आठ प्रकार की है—

१. औदारिक शरीर वर्गणा, २. वैक्रिय शरीर वर्गणा,
३. आहारक शरीर वर्गणा, ४. तैजस् शरीर वर्गणा,
५. भाषा वर्गणा, ६. श्वासोच्छ्‌वास वर्गणा,
७. मनोवर्गणा, ८. कार्मण वर्गणा।[1]

ये वर्गणाएँ क्रम से उत्तरोत्तर सूक्ष्म होती है। और इनकी अवगाहना भी उत्तरोत्तर न्यून अंगुल के असंख्यातवे भाग प्रमाण होती है।

उक्त ग्रहण योग्य वर्गणाओं मे से आहारकशरीर वर्गणा को छोड़कर शेष औदारिकादि प्रकार से रूपी द्रव्यो को ग्रहण करते हुए एक जीव द्वारा समस्त लोकाकाश के पुद्‌गलो का स्पर्श करना पुद्‌गल परावर्तन कहलाता है।

एक पुद्‌गल परावर्तन व्यतीत होने में अनन्त काल चक्र लग जाते है। अद्धापल्योपम की अपेक्षा से २० कोटाकोटि सागरोपम का एक कालचक्र होता है।

पुद्‌गल परावर्तन के मुख्य चार भेद है—

१. द्रव्य पुद्‌गल परावर्तन, २ क्षेत्र पुद्‌गल परावर्तन, ३. काल पुद्‌गल परावर्तन ४. भाव पुद्‌गल परावर्तन।[2] और इन चारों के

---

१. क—समान जातीय पुद्‌गलो के समूह को वर्गणा कहते है।
ख—पचसग्रह गा०, १५ (वन्धन कारण), आवश्यक निर्युक्ति गा०, ३६।
२. दिगम्बराचार्यो ने इन चार पुद्‌गल परावर्तनो के अतिरिक्त पाँचवाँ भेद भव पुद्‌गल परावर्तन माना है। ससारी जीव का नरक की छोटी मे छोटी आयु लेकर ग्रैवेयक विमान तक की आयु को समय क्रम मे प्राप्त कर भ्रमण करना भव परावर्तन है।

[illegible] बादर और सूक्ष्म यह दो-दो प्रकार होते हैं। इस प्रकार से पुद्गल [illegible]रावर्तन के निम्नलिखित आठ भेद हैं—

१. बादर द्रव्य पुद्गल परावर्तन, २. सूक्ष्म द्रव्य पुद्गल परावर्तन,
३. बादर क्षेत्र पुद्गल परावर्तन, ४. सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल परावर्तन,
५. बादर काल पुद्गल परावर्तन, ६. सूक्ष्म काल पुद्गल परावर्तन,
७. बादर भाव पुद्गल परावर्तन, ८. सूक्ष्म भाव पुद्गल परावर्तन।

इन आठ भेदों की व्याख्या क्रमशः निम्नप्रकार है—

१. बादर द्रव्य पुद्गल परावर्तन—जितने काल में एक जीव समस्त लोक में रहने वाले समस्त परमाणुओं को आहारक शरीर वर्गणा के सिवाय शेष औदारिक शरीर आदि सातों वर्गणा रूप से ग्रहण करके छोड़ देता है, उतने काल को बादर द्रव्य पुद्गल परावर्तन कहते हैं। [illegible] यह है कि विश्व के प्रत्येक परमाणु औदारिक आदि सातों वर्गणाओं में परिणमन करे यानी जब जीव सारे लोक में व्याप्त सभी परमाणुओं को औदारिकादि रूप से प्राप्त कर ले तब एक बादर द्रव्य पुद्गल परावर्तन होता है।

२. सूक्ष्म द्रव्य पुद्गल परावर्तन—जितने काल में समस्त परमाणुओं को औदारिक शरीर आदि सात वर्गणाओं में से किसी एक वर्गणा [illegible] ग्रहण करके छोड़ देता है, उस काल को सूक्ष्म द्रव्य पुद्गल [illegible] कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि जिस समय जीव सर्व लोक-[illegible] को औदारिक रूप में परिणमाता है, अगर उस समय के [illegible] वैक्रिय पुद्गलों को ग्रहण कर ले तो उस समय को गिनती में [illegible]। किन्तु औदारिक रूप में परिणत अणुओं का ही ग्रहण [illegible] इसी प्रकार वैक्रिय शरीर वर्गणा आदि अन्य वर्गणाओं के [illegible] समझना चाहिए। ग्रहण योग्य वर्गणायें सात हैं। अतः उन

उन वर्गणाओं के नाम से सूक्ष्म द्रव्य पुद्‌गल परावर्तन के भी सात भे
हो जाते है ।

३. **बादर क्षेत्र पुद्‌गल परावर्तन**—एक जीव अपने मरण के द्वा
लोकाकाश के समस्त प्रदेशों को क्रम से या बिना क्रम से जैसे ब
वैसे जितने समय में स्पर्श कर लेता है, उसे बादर क्षेत्र पुद्‌गल पर
वर्तन कहते है। जिस प्रदेश मे एक बार मृत्यु प्राप्त कर चुका
अगर उसी प्रदेश मे फिर मृत्यु प्राप्त करे तो वह इसमे नही गि
जायेगा। केवल वे ही प्रदेश गिने जायेगे, जिनमे पहले मृत्यु प्रा
नही की है। यद्यपि जीव असख्यात प्रदेशो में रहता है फिर भी कि
प्रदेश को मुख्य रखकर गिनती की जा सकती है।

४. **सूक्ष्म क्षेत्र पुद्‌गल परावर्तन**—कोई जीव ससार मे भ्रमण कर
हुए आकाश के किसी एक प्रदेश में मरण करके पुन उस प्रदेश
समीपवर्ती दूसरे प्रदेश मे मरण करता है। पुन. उसके निकटव
तीसरे प्रदेश मे मरण करता है। इस प्रकार अनन्तर-अनन्तर प्रदेश
मरण करते हुए जव समस्त लोकाकाश के प्रदेशो मे मरण कर लेत
है, तव उसे सूक्ष्म क्षेत्र पुद्‌गल परावर्तन कहते है। बादर और सूक्ष
क्षेत्र पुद्‌गल परावर्तन मे इतना अन्तर है कि वादर मे तो क्षेत्र
प्रदेशो के क्रम का विचार नही किया जाता है और सूक्ष्म मे क्षेत्र
प्रदेश के क्रम का विचार होता है। अर्थात् सूक्ष्म मे समस्त प्रदेशो
क्रम से ही मरण को ग्रहण करना चाहिए। अक्रम से जिन प्रदेशो
मरण होता है उनकी गणना नही की जाती है।

५. **वादर काल पुद्‌गल परावर्तन**—वीस कोटा-कोटी सागरोपम
एक कालचक्र के प्रत्येक समय को क्रम से या अक्रम से जीव अप
मरण द्वारा स्पर्श कर लेता है तो उसे वादर काल पुद्‌गल परावर्त
कहते है। जव एक ही समय मे जीव दूसरी वार मरण प्राप्त कर लेन

चाहिए। जैसे सम्यक्त्व प्राप्ति के वाद जीव देशोन अर्ध पुद्गल परावर्तन मे अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है। वहाँ काल का सूक्ष्म पुद्गल परावर्तन ही लिया जाता है।

इस प्रकार से जैन-वाङ्मय मे काल गणना का अति सूक्ष्म, गम्भीर और तलस्पर्शी विवेचन किया गया है। अपेक्षा भेद से हम काल की समय से लेकर भूत, वर्तमान, भविष्य, सख्यात, असख्यात, अनन्त आदि के रूप में गणना कर ले। लेकिन इन भेद प्रभेदो से उसकी अनन्तता मे किसी प्रकार का अन्तर नही आता है। इसीलिए लोक, जीव आदि द्रव्यों को काल की अपेक्षा से अनादि-अनन्त माना है। लोक अनादि काल से है ओर अनन्त काल तक रहेगा। इस लोक मे विद्यमान ससारी जीव सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद अनन्त संसार का क्षय करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

तुलनात्मक मंतव्य

(श्वेताम्वर-दिगम्वर मान्यता)

सामान्यतया कर्मो की वन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता प्रकृतियो की सख्या एव गुणस्थानों, मार्गणाओ मे कर्मो के वन्ध आदि के सम्वन्ध मे सैद्धान्तिकों, कर्मग्रन्थकारों तथा श्वेताम्वर-दिगम्वर आचार्यो द्वारा रचित कर्मसाहित्य के विपय-प्रतिपादन मे अधिकाशत. समानता परिलक्षित होती है। कथचित् भिन्नता भी है जो कर्म विपयक अध्ययन और मनन के योग्य होने से कतिपय विन्दुओं को यहाँ प्रस्तुत कर रहे है।

गुणस्थान का लक्षण

श्वेताम्वर ग्रन्थो मे गुणस्थान की व्याख्या—ज्ञान आदि गुणो की शुद्धि और अशुद्धि के न्यूनाधिक भाव मे होने वाले जीव के स्वरूप को

इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि जो जीव छठे गुणस्थान मे देवायु के बध का प्रारम्भ कर उसे उसी गुणस्थान मे समाप्त किये विना सातवे गुणस्थान को प्राप्त करते है, उनकी अपेक्षा ५९ प्रकृतियाँ बंधयोग्य है और जो जीव छठे गुणस्थान में प्रारम्भ किये गये देवायु के बध को छठे गुणस्थान में ही समाप्त करते है अर्थात् देवायु के वध को समाप्त करने के बाद सातवे गुणस्थान को प्राप्त करते है, उनकी अपेक्षा ५८ प्रकृतियो का बध होता है। (विशेष गा० ७, ८ की व्याख्या मे देखिए।)

श्वेताम्वर और दिगम्वर कर्मग्रन्थो में गुणस्थानों की उदय व उदीरणा योग्य प्रकृतियाँ समान मानी है। लेकिन यह समानता दिगम्वर ग्रन्थ गो० कर्मकांड गा० २६४ मे उल्लिखित भूतवलि आचार्य के मतानुसार मिलती है और उसी ग्रन्थ मे (गा० २६३) व्यक्त यति-वृपभाचार्य के मत से कही मिलती है और कही नही मिलती है। यतिवृषभाचार्य पहले गुणस्थान मे ११२ प्रकृतियो का और चौदहवे गुणस्थान मे १३ प्रकृतियाँ का उदय मानते है। कर्मग्रन्थ मे पहले गुणस्थान मे ११७ और चौदहवे गुणस्थान मे १२ प्रकृतियो का उदय वताया है।

सातवे आदि गुणस्थानों मे वेदनीय कर्म की उदीरणा नही होती, इससे उन गुणस्थानो मे आहार संज्ञा को दिगम्वर साहित्य (गो० जीवकाड गा० १३८) मे नही माना है। परन्तु उक्त गुणस्थानो मे उक्त मज्ञा को मानने मे कोई आपत्ति नही जान पडती है क्योंकि उन गुणस्थानो मे असातावेदनीय के उदय आदि के अन्य कारण सम्भव हैं।

कर्मग्रन्थ मे दूसरे गुणस्थान मे तीर्थंकर नामकर्म के सिवाय १४७ प्रकृतियो की सत्ता मानी है। परन्तु दिगम्वर ग्रन्थ (गो० कर्मकाड) मे आहारकद्विक और तीर्थंकर नामकर्म इन तीन प्रकृतियो के सिवाय

१४७ प्रकृतियों की सत्ता मानी है। इसी प्रकार गो० कर्मकांड गा० ३३३-३३६ के मतानुसार पाँचवें गुणस्थान में वर्तमान जीव को नरकायु की सत्ता नहीं होती और छठे व सातवें गुणस्थान में नरकायु व तिर्यंचायु इन दो की सत्ता नहीं होती। अतः उस ग्रन्थ के अनुसार पाँचवें गुणस्थान में १४७ की और छठे, सातवें गुणस्थान में १४६ की सत्ता मानी है किन्तु कर्मग्रन्थ के अनुसार पाँचवें गुणस्थान में नरकायु की और छठे, सातवें गुणस्थान में नरकायु, तिर्यंचायु की सत्ता भी हो सकती है।

बंध यंत्र

क्रम	गुणस्थान नाम	मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	वेदनीय	मोहनीय	आयु	नाम	गोत्र	अंतराय	अबंध
	सामान्य	८	१२०	५	९	२	२६	४	६७	२	५	०
१	मिथ्यात्व	८	११७	५	९	२	२६	४	६४	२	५	३
२	मासादन	८	१०१	५	९	२	२४	३	५१	२	५	१९
३	मिश्र	७	७४	५	६	२	१९	०	३६	१	५	४६
४	अविरत	८	७७	५	६	२	१९	२	३७	१	५	४३
५	देशविरत	८	६७	५	६	२	१५	१	३२	१	५	५३
६	प्रमत्तसयत	८	६३	५	६	२	११	१	३२	१	५	५७
७	अप्रमत्तविरत	८/७	५९/५८	५	६	१	९	१/०	३१	१	५	६१/६२
८	अपूर्वकरण भाग १	७	५८	५	६	१	९	०	३१	१	५	६२
	,, ,, २	७	५६	५	४	१	९	०	३१	१	५	६४
	,, ,, ३	७	५६	५	४	१	९	०	३१	१	५	६४

	पूर्वकरण भाग ४	७	५९	५	४	१	९	०	३१	१	५	९४
	,, ,, ५	७	५९	५	४	१	९	०	३१	१	५	९४
	,, ,, ६	७	५९	५	४	१	९	०	३१	१	५	९४
	,, ,, ७	७	२९	५	४	१	९	०	१	१	५	९४
९	अनिवृत्तिकरण भाग १	७	२२	५	४	१	५	०	१	१	५	९८
	,, २	७	२१	५	४	१	४	०	१	१	५	९९
	,, ३	७	२०	५	४	१	३	०	१	१	५	१००
	,, ४	७	१९	५	४	१	२	०	१	१	५	१०१
	,, ५	७	१८	५	४	१	१	०	१	१	५	१०२
१०	सूक्ष्मसाम्पराय	६	१७	५	४	१	०	०	१	१	५	१०३
११	उपशान्तमोह	१	१	०	०	१	०	०	०	०	०	११६
१२	क्षीणमोह	१	१	०	०	१	०	०	०	०	०	११६
१३	सयोगी केवली	१	१	०	०	१	०	०	०	०	०	११६
१४	अयोगी केवली	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१२०

२ उदय यंत्र

क्रम	गुणस्थान नाम	मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	वेदनीय	मोहनीय	आयु	नाम	गोत्र	अंतराय	अनुदय
	सामान्य	८	१२२	५	९	२	२८	४	६७	२	५	०
१	मिथ्यात्व	८	११७	५	९	२	२६	४	६४	२	५	५
२	सासादन	८	१११	५	९	२	२५	४	५९	२	५	११
३	मिश्र	८	१००	५	९	२	२२	४	५१	२	५	२२
४	अविरत	८	१०४	५	९	२	२२	४	५५	२	५	१८
५	देशविरत	८	८७	५	९	२	१८	२	४४	२	५	३५
६	प्रमत्तसयत	८	८१	५	९	२	१४	१	४४	१	५	४१
७	अप्रमत्तसयत	८	७६	५	६	२	१४	१	४२	१	५	४६
८	अपूर्वकरण	८	७२	५	६	२	१३	१	३९	१	५	५०
९	अनिवृत्तिकरण	८	६६	५	६	२	७	१	३९	१	५	५६
१०	सूक्ष्मसपराय	८	६०	५	६	२	१	१	३९	१	५	६२
११	उपशातमोह	७	५९	५	६	२	०	१	३९	१	५	६३
१२	क्षीणमोह	७	५७।५५	५	६।४	२	०	१	३७	१	५	६५।६७
१३	सयोगीकेवली	४	४२	०	०	२	०	१	३८	१	०	८०
१४	अयोगीकेवली	४	१२	०	०	२	०	१	९	१	०	११०

३ उदीरणायन्त्र

क्रम	गुणस्थान नाम	मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	वेदनीय	मोहनीय	आयु	नाम	गोत्र	अन्तराय	अनुदीरणा
	सामान्य	८	१२२	५	९	२	२८	४	६७	२	५	×
१	मिथ्यात्व	८	११७	५	९	२	२६	४	६४	२	५	५
२	सासादन	८	१११	५	९	२	२५	४	५९	२	५	११
३	मिश्र	८	१००	५	९	२	२२	४	५१	२	५	२२
४	अविरत	८	१०४	५	९	२	२२	४	५५	२	५	१८
५	देशविरत	८	८७	५	९	२	१८	२	४४	२	५	३५
६	प्रमत्तसंयत	८	८१	५	९	२	१४	१	४४	१	५	४१
७	अप्रमत्तसंयत	६	७३	५	६	०	१४	०	४२	१	५	४९
८	अपूर्वकरण	६	६९	४	६	०	१३	०	३९	१	५	५३
९	अनिवृत्तिकरण	६	६३	५	६	०	७	०	३९	१	५	५९
१०	सूक्ष्मसंपराय	६	५७	५	६	०	१	०	३९	१	५	६५
११	उपशान्तमोह	५	५६	५	६	०	०	०	३९	१	५	६६
१२	क्षीणमोह	५	५४/५२	५	६/४	०	०	०	३७	१	५	६८/७०
१३	सयोगिकेवली	२	३९	०	०	०	०	०	३८	१	०	८३
१४	अयोगिकेवली	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१२२

४ सत्ता यंत्र

१४ गुणस्थान में सत्ता		मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति	उपशमश्रेणी	क्षपकश्रेणी	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	वेदनीय	मोहनीय	आयु	नाम	गोत्र	अंतराय
सामान्य		८	१४८			५	९	२	२८	४	९३	२	५
१ मिथ्यात्व		८	१४८			५	९	२	२८	४	९३	२	५
२ सासादन		८	१४७			५	९	२	२८	४	९२	२	५
३ मिश्र		८	१४७			५	९	२	२८	४	९२	२	५
४ अविरत		८	१४८	‡१४८।१४१	१४५।१३८	५	९	२	२८।२४।२१	४।१	९३	२	५
५ देशविरत		८	१४८	,,	,,	५	९	२	,,	,,	९३	२	५
६ प्रमत्तसयत		८	१४८	,,	,,	५	९	२	,,	,,	९३	२	५
७ अप्रमत्तसयत		८	१४८	,,	,,	५	९	२	,,	,,	९३	२	५
८ अपूर्वकरण		८	१४८।१४२	’१४२।१३९	१३८	५	९	२	,,	२।१	९३	२	५
९ अनिवृत्तिकरण	१	८	,,	,,	१३८	५	९।६	२	२१‡	,,	९३।८०	२	५
के	२			०	१२२	५	९।६	२	२१	,,	९३।८०	२	५
९ भाग	३			०	११४	५	,,	२	१३	,,	,,	२	५
होते है	४			०	११३	५	,,	२	१२	,,	,,	२	५

गुणस्थान-बंधादि विषयक यंत्र

आठ कर्मों की १४८ प्रकृतियों का बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता किस-किस गुणस्थान तक होती है

क्रम	उत्तर प्रकृतियों की संख्या का क्रम	मूल कर्म की उत्तर प्रकृतियों के नाम	किस गुणस्थान तक बंध	किस गुणस्थान तक उदय	किस गुणस्थान तक उदीरणा	किस गुणस्थान तक सत्ता
१	२	३	४	५	६	७
		ज्ञानावरण ५				
१	१	मति ज्ञानावरण	१०	१२	१२	१२
२	२	श्रुत ज्ञानावरण	१०	१२	१२	१२
३	३	अवधि ज्ञानावरण	१०	१२	१२	१२
४	४	मनःपर्याय ज्ञानावरण	१०	१२	१२	१२
५	५	केवल ज्ञानावरण	१०	१२	१२	१२
		दर्शनावरण ९				
६	१	चक्षुदर्शनावरण	१०	१२	१२	१२
७	२	अचक्षुदर्शनावरण	१०	१२	१२	१२
८	३	अवधि दर्शनावरण	१०	१२	१२	१२
९	४	केवल दर्शनावरण	१०	१२	१२	१२
१०	५	निद्रा	१०	एक समय न्यून-१२	आवलिका समयाधिक न्यून-१२	एक समय न्यून-१२

२	३	४	५	६	७
६	निद्रा-निद्रा	२	६	६	$८\frac{१}{६}$
७	प्रचला	$\frac{६}{६}$	१२. स. समय न्यून दिन	१२.समया-धिक आवलिका न्यून	१२ समय न्यून
८	प्रचला-प्रचला	२	६	६	$\frac{६}{१}$
९	स्त्यानर्द्धि	२	६	६	$\frac{६}{१}$
	वेदनीय—२				
१	सातावेदनीय	१३	१४	६	१४
२	असातावेदनीय	६	१४	६	१४
	मोहनीय—२८				
१	सम्यकत्व मोहनीय	बंध नहीं होता है	४ से ७	४ से ८	११–७
२	मिश्र मोहनीय		तीसरे गु.	तीसरे गु.	११–७
३	मिथ्यात्व मोहनीय	१	१	१	११–७
४	अनन्तानुबंधी क्रोध	२	२	२	११–७
५	अनन्तानुबंधी मान	२	२	२	११–७
६	अनन्तानुबंधी माया	२	२	२	११–७
७	अनन्तानुबंधी लोभ	२	२	२	११–७
८	अप्रत्या० क्रोध	४	४	४	११–७

१	२	३	४	५	६	७
२९	१३	प्रत्या० मान	५	५	५	११-९/२
३०	१४	,, माया	५	५	५	,,
३१	१५	,, लोभ	५	५	५	,,
३२	१६	संज्वलन क्रोध	९/२	९	९	११-९/७
३३	१७	,, मान	९/३	९	९	११-९/८
३४	१८	,, माया	९/४	९	९	११-९/६
३५	१९	,, लोभ	९	१०	१०	११-१०
३६	२०	हास्य नोकषाय	८/७	८	८	११-९/५
३७	२१	रति ,	८/७	८	८	११-९/५
३८	२२	अरति ,,	६	८	८	११-९/५
३९	२३	शोक ,,	६	८	८	११-९/५
४०	२४	भय ,,	८/७	८	८	११-९/५
४१	२५	जुगुप्सा ,,	८/७	८	८	११-९/५
४२	२६	पुरुषवेद ,,	९/१	९	९	११-९/६
४३	२७	स्त्रीवेद ,,	२	९	९	११-९/४
४४	२८	नपुंसकवेद	१	९	९	११-९/३
		आयु कर्म—४				
४५	१	देवायु	१ से ७*	४	४	११-७
४६	२	मनुष्यायु	४	१४	६	१४
४७	३	तिर्यंचायु	२	५	५	७
४८	४	नरकायु	१	४	४	७

* तीसरे गुणस्थान मे किसी आयु का वन्ध होता नही है, इसलिए तीसरे गुणस्थान के सिवाय ।

१	२	३	४	५	६	७
६८	२०	आहारक ,,	४ का बंध स्व शरीर तुल्य	स्व शरीर तुल्य	स्व शरीर तुल्य	१४
६९	२१	तैजस ,,				१४
७०	२२	कार्मण बधन				१४
७१	२३	औदारिक संघातन नाम				१४
७२	२४	वैक्रिय ,,				१४
७३	२५	आहारक ,,		छठवा	छठवां	१४
७४	२६	तैजस् ,,				१४
७५	२७	कार्मण सघातन				१४
७६	२८	वज्रऋषभ नाराच सं.	४	१३	१३	१४
७७	२९	ऋषभ नाराच स०	२	११	११	१४
७८	३०	नाराच संघनन	२	११	११	१४
७९	३१	अर्धनाराच सघयन	२	७	७	१४
८०	३२	कीलिका	२	७	७	१४
८१	३३	सेवार्त	१	७	७	१४
८२	३४	सम चतुरस्र संस्थान	८/६	१३	१३	१४
८३	३५	न्यग्रोध ,,	२	१३	१३	१४
८४	३६	सादि ,,	२	१३	१३	१४
८५	३७	वामन ,,	२	१३	१३	१४
८६	३८	कुब्ज ,,	२	१३	१३	१४
८७	३९	हुण्डक ,,	१	१३	१३	१४
८८	४०	कृष्ण वर्ण नाम	८/६	१३	१३	१४
८९	४१	नील ,,	,,	१३	१३	१४

१	२	३	४	५	६	७
११३	६५	अशुभविहायोगति	२	१३	१३	१४
११४	६६	पराघातनामकर्म	८/६	१३	१३	१४
११५	६७	उच्छ्‌वास	८/६	१३	१३	१४
११६	६८	आतप	१	१	१	९/१
११७	६९	उद्योतनामकर्म	२	५	५	९/१
११८	७०	अगुरु लघु ,,	८/६	१३	१३	१४
११९	७१	तीर्थंकर ,,	८/६	१३-१४	१३	१४
१२०	७२	निर्माण ,,	८/६	१३	१३	१४
१२१	७३	उपघात ,,	,,	१३	१३	१४
१२२	७४	त्रस नाम ,,	,,	१४	१३	१४
१२३	७५	बादर ,,	,,	१४	१३	१४
१२४	७६	पर्याप्त ,,	,,	१४	१३	१४
१२५	७७	प्रत्येक ,,	,,	१३	१३	१४
१२६	७८	स्थिर ,,	,,	१३	१३	१४
१२७	७९	शुभ ,,	,,	१३	१३	१४
१२८	८०	सौभाग्य ,,	,,	१३	१३	१४
१२९	८१	सुस्वर ,,	,	१३	१३	१४
१३०	८२	आदेय नाम कर्म	,,	१४	१३	१४
१३१	८३	यश:कीर्ति ,,	१०	१४	१३	१४
१३२	८४	स्थावर नामकर्म	१	२	२	९/१
१३३	८५	सूक्ष्म	१	१	१	९/१
१३४	८६	अपर्याप्त	१	१	१	१४
१३५	८७	साधारण ,	१	१	१	९/१

१	२	३	४	५	६	७
११६	८८	अस्थिर	६	१३	१३	१४
११७	८९	अशुभ	६	१३	१३	१४
११८	९०	दौर्भाग्य[1]	२	४	४	१४
११९	९१	दुःस्वर[1]	२	१३	१३	१४
१२०	९२	अनादेय[1]	२	४	४	१४
१२१	९३	अयशःकीर्ति	६	४	४	१४
		गोत्रकर्म २				
	१	उच्च गोत्र	१०	१४	१३	१४
	२	नीचगोत्र	२	५	५	१४
		अन्तराय-५				
	१	दानान्तराय	१०	१२	१२	१२
	२	लाभान्तराय	१०	१२	१२	१२
	३	भोगान्तराय	१०	१२	१२	१२
	४	उपभोगान्तराय	१०	१२	१२	१२
	५	वीर्यान्तराय	१०	११	१२	१२

(१) इस पद में उपशम और क्षपक इन प्रकार दो श्रेणियों की विवक्षा नहीं की गई है।

(२) नाम कर्म की जिन प्रकृतियों की सत्ता चौदह गुणस्थान तक कही है, उनमें से मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यश कीर्ति और तीर्थंकर नाम इन नौ के सिवाय [illegible] प्रकृतियों की सत्ता चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय तक होती है।

उदय अविनाभावी

क्रम	यद् अविनाभावी प्रकृतियों के निमित्त	कुल प्रकृतिया	गुण १	२	३
१	केवलज्ञान	१	०	०	०
२	मिश्र गुणस्थान	१	०	०	१
३	क्षयोपशम सम्यक्त्व	१	०	०	०
४	प्रमत्तसंयत	२	०	०	०
५	मिथ्यात्व	५	५	०	०
६	जन्मान्तर	४	४	३	०
७	अनन्तानुवन्धीय	९	९	९	०
८	अप्रत्याख्यानीय	१३	१३	१३	१३
९	प्रत्याख्यानीय	८	८	८	८
१०	प्रमादभाव सक्लेश	३	३	३	३
११	यथाप्रवृत्ति-पूर्वकरण	३	३	३	३
१२	तथाविध सक्लिष्ट परिणाम	६	६	६	६
१३	वादरकपाय	६	६	६	६
१४	अयथाख्यात चारित्र	१	१	१	१
१५	अक्षपक भाव	२	२	२	२
१६	छाद्मस्थिकभाव	१६	१६	१६	१६
१७	वादरकायवाग् योग	२९	२९	२९	२९
१८	ममारी जीवन	२	२	२	२
१९	मानव मन	२	२	२	२
२०	मिद्धत्वस्पर्शी पुण्य	८	८	८	८
	कुल निमित्त	२०	१६	१५	१४
	कुल प्रकृतिया	१२२	११७	१११	१००
	कितनी प्रकृतिया नहीं होती हैं	०	५	११	२२

कर्म प्रकृतियों का बंध निमित्तक विवरण

क्रम	गुणस्थान	योगनिमित्तक	सूक्ष्म संपराय निमित्तक	अनिवृत्तिबादर कषाय निमित्तक	अपूर्वकरण निवृत्ति सहकृत-बादर कषाय निमित्तक	अप्रमत्तभाव नि०	प्रमत्तभाव नि०	प्रत्याख्यानीय कषाय निमित्तक	अप्रत्याख्यानीय कषाय निमित्तक	सम्यक्त्व सहकृत संक्लेश-निमित्तक	अनन्तानुबंधीय निमित्तक	मिथ्यात्व निमित्तक	कुल प्रकृतियां
१	मिथ्यात्व	१	१६	५	३३	०	७	४	१०	०	२५	१६	११७
२	सास्वादन	१	१६	५	३३	०	७	४	१०	०	२५	०	१०१
३	मिश्र	१	१६	५	३३	०	७	४	९	०	०	०	७४
४	अविरति	१	१६	५	३३	०	७	४	१०	१	०	०	७७
५	देशविरति	१	१६	५	३३	०	७	४	०	१	०	०	६७
६	प्रमत्त संयत	१	१६	५	३३	०	७	०	०	१	०	०	६३
७	अप्रमत्त सयत	१	१६	५	३३	२	०	०	०	१	०	०	५८
८	अपूर्वकरण	१	१६	५	३३	२	०	०	०	१	०	०	५८
९	अनिवृत्तिबादर	१	१६	५	०	०	०	०	०	०	०	०	२२
१०	सूक्ष्मसपराय	१	१६	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१७
११	उपशात मोह	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
१२	क्षीणमोह	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
१३	सयोगि	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
१४	अयोगि	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	[illegible]

गुणस्थानों में कर्म प्रकृतियों के बंध, उदय, उदीरणा, सत्ता का विवरण

ध प्रकृतिया १२०, उदय व उदीरणा प्रकृतिया १२२, सत्ता प्रकृतिया १४८
घ—सामान्यरूप से किसी विशेष गुणस्थान व जीव विशेष की विवक्षा के विना कथन।

बंध-विवरण

ोघ मूलप्रकृति ८ उत्तरप्रकृति १२०

(१) ज्ञानावरण ५, (२) दर्शनावरण ६, (३) वेदनीय २, (४) मोहनीय २६, (५) आयु ४, (६) नाम ६७, [पिंड प्रकृतिया ३६, प्रत्येक प्रकृतियां ८, त्रसदशक १०, स्थावरदशक १०=६७] (७) गोत्र २, (८) अतराय ५=१२०

मिथ्यात्व मूल ८ उत्तर ११७

तीर्थंकर नामकर्म और आहारकद्विक (आहारक शरीर, आहारक अगोपाग नामकर्म) का वध नही होता।

सास्वादन मूल ८ उ० १०१

नरकत्रिक (नरकगति, नरकायु, नरकानुपूर्वी) जाति-चतुष्क (एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) स्थावर चतुष्क (स्थावरनाम, सूक्ष्मनाम अपर्याप्त नाम साधारणनाम) हुडसस्थान, सेवार्त संहनन, आतपनाम, नपुंसक वेद, मिथ्यात्व मोहनीय=१६ प्रकृतियो का वंध विच्छेद मिथ्यात्व गुणस्थान के अत मे हो जाने से शेष १०१ का वध सभव है।

मिश्रगुण मूल ८ उ० ७४

तिर्यंचत्रिक (तिर्यंचगति, तिर्यंचायु तिर्यंचानुपूर्वी) स्त्यानर्द्धित्रिक (निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि) दुर्भगत्रिक (दुर्भगनाम, दुःस्वरनाम, अनादेयनाम)

अनन्तानुबंधी चतुष्क (अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ) मध्यम सस्थान चतुष्क (न्यग्रोधपरिमडल, वामन, सादि, कुब्ज) मध्यम संहनन चतुष्क (ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका) नीचगोत्र, उद्योतनाम, अशुभविहायोगति, स्त्रीवेद = २५ का बध दूसरे गुणस्थान मे अत होने व मिश्र गुणस्थान मे किसी आयु का बध सभव न होने से शेष दो आयु (मनुष्यायु, देवायु) को घटा देने से २७ प्रकृतिया कम होती है।

४ अविरत सम्यग्दृष्टि मूल ८ उ० ७७

मनुष्यायु, देवायु व तीर्थंकर नाम का बध होने से मिश्र गुणस्थान की ७४ प्रकृतियो मे यह तीन जोडे = ७७।

नोट—नरक व देव जो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती है, वे तो मनुष्यायु का और तिर्यंच व मनुष्य देवायु का बध करते है।

५ देशविरति मूल ८ उ० ६७

वज्र ऋषभनाराच सहनन, मनुष्यत्रिक (मनुष्यगति, मनुष्यायु, मनुष्यानुपूर्वी) अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क (अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ) औदारिक द्विक (औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपाग) कुल १० प्रकृतियो का विच्छेद चतुर्थ गुणस्थान के अत समय मे होने से शेष ६७ का बध सभव है।

६ प्रमत्तविरत मूल ८ उ० ६३

प्रत्याख्यानावरण चतुष्क (प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ) का बध विच्छेद पाचवे गुणस्थान के अंत समय मे हो जाने से ६७ − ४ = ६३ प्रकृतियो का बध सभव है।

वर्ण, गध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु चतुष्क (अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास) इन ३० प्रकृतियो का वंध विच्छेद होता है। सातवे भाग मे ये नही रहती = २६

४—आठवे गुणस्थान के सातवे भाग के अत मे हास्य, रति, जुगुप्सा, भय इन ४ प्रकृतियो का विच्छेद हो जाने से २६—४=२२ प्रकृतियो का वध नौवे मे संभव है।

९	अनिवृत्तिबादर	मूल ७	उ० २२; २१; २०; १६; १८

इस गुणस्थान के प्रारंभ मे २२ प्रकृतियो का वध
१. पहले भाग के अत मे पुरुष वेद का विच्छेद = २१
२. दूसरे भाग के अत में सज्वलन क्रोध का विच्छेद = २०
३. तीसरे भाग के अत मे सज्वलन मान का विच्छेद = १६
४. चौथे भाग मे सज्वलन माया का विच्छेद = १८
५ पांचवे भाग के अत समय मे लोभ का वध नही होता। अतः दसवे गुणस्थान के प्रथम समय मे शेष १७ प्रकृतिया रहेगी।

१०	सूक्ष्मसंपराय	मूल ६	उ० १७

दसवे गुणस्थान के अत समय मे—
दर्शनावरणीय ४
उच्चगोत्र १
ज्ञानावरणीय ५
अतराय ५
यशःकीर्ति नाम १ = १६ प्रकृतियो का वध-विच्छेद हो जाता है, शेप १ प्रकृति रहती है।

११	उपशांत मोहनीय	मूल १	उ० १

सातावेदनीय का वध होता है।
[स्थिति इसकी दो समय मात्र की होती है। योग निमित्त है।]

१२ क्षीणमोहनीय — मूल १ — उ० १
सातावेदनीय
[योगनिमित्त होने से स्थिति दो समय मात्र की।]

१३ सयोगि केवली — मूल १ — उ० १
बारहवे गुणस्थान की तरह

१४ अयोगि केवली — मूल ० — उ० ०
अबन्धक दशा

उदय-विवरण

ओघ — मूल प्रकृति ८ — उत्तर प्रकृति १२२
ज्ञानावरणीय ५, दर्शनावरणीय, ६ वेदनीय २, मोहनीय २८, आयु ४, नाम ६७, गोत्र २, अन्तराय ५ = १२२
(मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय इन दो प्रकृतियो का बध नही होता किन्तु उदय होता है अत. मोहनीय की २८ प्रकृतियाँ गिनी गई है।)

मिथ्यात्व — मूल ८ — उ० ११७
मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय आहारकद्विक और तीर्थकर नाम कर्म का उदय नही होने से ५ प्रकृतिया न्यून।

२ सासादन — मूल ८ — उ० १११
सूक्ष्मत्रिक (सूक्ष्मनाम, अपर्याप्त नामकर्म, साधारण नाम) आतप नाम, मिथ्यात्व मोहनीय, नरकानुपूर्वी = ६ प्रकृतियो का उदय नही होता है।

३ मिश्र — मूल ८ — उ० १००
अनन्तानुबधी चतुष्क, स्थावरनाम, एकेन्द्रियजाति, विकलेन्द्रियत्रिक (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय)

तिर्यचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी=१२ प्रकृतियो का तो उदय नही होता किन्तु मिश्र-मोहनीय का उदय होता है अत: (१११—१२+१) =१०० का उदय सम्भव है ।

४ अविरत सम्यग्हष्टि मूल ८ उ० १०४

सम्यक्त्व मोहनीय व आनुपूर्वी चतुष्क (देवानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी तिर्यचानुपूर्वी, नरकानुपूर्वी) का उदय सम्भव है ।
मिश्र मोहनीय का उदय नही होता अतः १००+५—१=१०४

५ देशविरत मूल ८ उ० ८७

अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यचानुपूर्वी, वैंक्रियाष्टक (देवगति, देवायु देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकायु, नरकानुपूर्वी वैंक्रियशरीर, वैक्रिय अंगोपांग) दुर्भगत्रिक (दुर्भगनाम अनादेय-नाम, अयशःकीर्तिनाम)=१७ का उदय सम्भव नही होता ।
१०४—१७=८७ का उदय सम्भव है ।

६ प्रमत्तविरत मूल ८ उ० ८१

तिर्यचगति, तिर्यचा[illegible], नीच गोत्र, उद्योतनाम, प्रत्याख्यानावरण कपायचतुष्क=८ का उदय तो सम्भव नही किन्तु आहारकद्विक का सम्भव होने से ८७—८+२=८१ प्रकृतिया उदय योग्य है ।

७ अप्रमत्तविरत मूल ८ उ० ७६

२—स्यानर्द्धित्रिक (निद्रा-निद्रा प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि) व आहारकद्विक अप्रमत्त अवस्था मे उदय सम्भव नही अत. ८१—५=७६ का उदय सम्भव है।

[यद्यपि आहारक शरीर बनाते समय लब्धि का उपयोग करने से छठा गुणस्थान प्रमादवर्ती (उत्सुकता से) होता है, परन्तु फिर उस तद् शरीरी जीव के अध्यवसाय की विशुद्धि से सातवे गुणस्थान मे तद् शरीर के होने पर भी प्रमादी नही कहा जाता ।]

८ अपूर्वकरण — मूल ८ — उ० ७२

सम्यक्त्व मोहनीय, अर्धनाराच, कीलिका, सेवार्त-सहनन इन चार प्रकृतियो का उदय विच्छेद सातवे गुणस्थान के अन्तिम समय मे हो जाने से इस गुण-स्थान मे इन चार का उदय सम्भव नही अत ७६—४=७२ प्रकृतियो का उदय सम्भव है ।

९ अनिवृत्तिबादर — मूल ८ — उ० ६६

हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा=६ प्रकृ-तियो का उदय सभव नही है । क्योकि इनका उदय-विच्छेद आठवे गुणस्थान के अंत समय मे हो जाता है ।

१० सूक्ष्मसंपराय — मूल ८ — उ० ६०

स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसकवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया=६ प्रकृतियो का उदय संभव नही ।

[इनका उदय तो नौवे गुणस्थान के अंतिम समय तक ही होता है]

नोट—यदि श्रेणि का प्रारभक पुरुष है तो पहले पुरुषवेद के, फिर स्त्रीवेद के, फिर नपुसक वेद के उदय को रोकेगा तदनन्तर सज्वलन त्रिक को । यदि स्त्री है तो पहले स्त्रीवेद को, फिर पुरुषवेद, फिर नपुसकवेद के उदय को रोकेगा । यदि नपुसक है तो पहले नपुसकवेद को, फिर स्त्रीवेद को, फिर पुरुषवेद के उदय को रोकेगा ।

११	उपशांतमोह	मूल ७	उ० ५९
		सज्वलन लोभ का उदय नही रहता है । [उसका उदय तो दसवे गुणस्थान के अतिम समय मे विच्छेद हो जाता है । जिनको ऋषभनाराच व नाराच सहनन होता है वे ही उपशम श्रेणि करते है।]	
१२	क्षीणमोह	मूल ७	उ० ५७
		ऋषभनाराच व नाराचसहनन का उदय सभव नही । इनका उदय ग्यारहवे गुणस्थान तक होता है। क्षपकश्रेणी, वज्र ऋषभनाराच सहनन के विना नही होती अतः ५९—२=५७ वारहवे गुणस्थान के अंत समय मे निद्रा प्रचला का भी उदय नही रहता अत· ५७—२=५५	
१३	सयोगिकेवली	मूल ४	उ० ४२
		ज्ञानावरणीय ५, दर्शनावरणीय ४ अतराय ५=१४ का उदय वारहवे गुणस्थान के अतिम समय तक ही रहता है अत ५५—१४=४१ तथा तीर्थकर नाम कर्म का उदय सभव है अतः ४१+१=४२ प्रकृतियो का उदय सभव है ।	
१४	अयोगिकेवली	मूल ४	उ० १२
		औदारिकद्विक (औदारिक शरीर औदारिक अगोपाग) अस्थिरद्विक (अस्थिरनाम, अशुभनाम) खगति द्विक (शुभ विहायोगति, अशुभविहायोगति) प्रत्येकत्रिक (प्रत्येक नाम, शुभनाम स्थिरनाम) सस्थानषटक (समचतुरस्र, न्यग्रोध, सादि, वामन कुब्ज, हुड) अगुरुलघुचतुष्क (अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास नाम) वर्ण चतुष्क (वर्ण, गध, रस, स्पर्श) निर्माण नाम, तैजस शरीर कार्मण शरीर,	

५ देशविरत मूल ८ उ० ८७

उदयवत १७ प्रकृतियो की उदीरणा सभव है।

६ प्रमत्तविरत मूल ८ उ० ८१

उदयवत् संभव है।

७ अप्रमत्तविरत मूल ६ उ० ७३

वेदनीयद्विक (साता, असाता) आहारक द्विक, स्त्यानर्द्धित्रिक, मनुष्यायु=८ छठे गुणस्थान के अतिम समय मे इन आठ कर्म प्रकृतियो की उदीरणा रुक जाने से ८१—८=७३ की उदीरणा सभव है।

नोट—छठे गुणस्थान से आगे ऐसे अध्यवसाय नही होते जिससे साता असाता वेदनीय, मनुष्यायु की उदीरणा हो सके अत उदय की अपेक्षा ये तीन कर्म प्रकृतिया कम गिनी है।

८ अपूर्वकरण मूल ६ उ० ६९

सम्यक्त्व मोहनीय, अर्धनाराच सहनन, कीलिका सहनन, सेवार्त सहनन इन चार प्रकृतियो की उदीरणा सभव नही।

९ अनिवृत्तिवादर मूल ६ उ० ६३

हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा=६ की उदीरणा सभव नही है।

१० सूक्ष्मसंपराय मूल ६ उ० ५७

स्त्रीवेद, पुरुपवेद, नपुसकवेद, सज्वलन क्रोध, मान, माया=६ की उदीरणा समव नही है।

११ उपशांतमोह मूल ५ उ० ५६

संज्वलन लोभ की उदीरणा नही होती।

१२ क्षीणमोह — मूल ५ — उ० ५४

ऋषभनाराच व नाराच सहनन, क्षपक श्रेणि आरूढ के नही होते।

५६—२=५४

अत समय के आगे निद्रा, प्रचला की उदीरणा सभव नही। अतः ५४—२=५२

१३ सयोगिकेवली — मूल २ — उ० ३९

ज्ञानावरणीय ५, दर्शनावरणीय ४ अन्तराय ५=१४ प्रकृतिया इस गुणस्थान में न रहने से उदीरणा सभव नही, तथा तीर्थकर नाम कर्म जोड देने से ५२—१४+१=३९ प्रकृतियो की उदीरणा सभव है।

१४ अयोगिकेवली

किसी कर्म की उदीरणा नही होती है।

सत्ता-विवरण

ओघ — मूल प्रकृति ८ — उत्तर प्रकृति १४८

ज्ञानावरणीय ५ दर्शनावरणीय ९
वेदनीय २ मोहनीय २८
आयु ४ नाम ९३ (पिंड प्र० ६५, प्रत्येक ८, त्रसदशक १०, स्थावरदशक १०=९३)
गोत्र २, अंतराय ५

१ मिथ्यात्व — मूल ८ — उ० १४८

जिस जीव ने पहले नरक आयु का वध कर लिया हो, व फिर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व पाकर उसके वल से जिन नाम कर्म वाध लिया हो वह जीव नरक मे जाते समय सम्यक्त्व को त्याग कर मिथ्यात्व

		को अवश्य ही प्राप्त करता है, परन्तु तीर्थकर नाम कर्म की सत्ता तो उस गुणस्थान मे है, अतः इस गुणस्थान मे १४८ प्रकृतियो की सत्ता है । (योग्यता की अपेक्षा से)
२	सासादन	मूल ८ उ० १४७ कोई भी जीव तीर्थकर नाम कर्म बाधकर सास्वादन गुणस्थान प्राप्त नही करता है अत. दूसरे गुणस्थान मे इसे जिन नामकर्म की सत्ता नही होती है ।
३	मिश्र	मूल ८ उ० १४७ दूसरे गुणस्थान के समान
४	अविरत सम्यग्दृष्टि	मूल ८ उ० १४८, १४५, १४१, १४१, १३८ संभव सत्ता की अपेक्षा से यद्यपि किसी एक समय मे किसी एक जीव को दो आयु से अधिक की सत्ता नही होती, परन्तु योग्य सामग्री मिलने पर जो कर्म विद्यमान नही है, उनका भी वंध व सत्ता हो सकती है अत. योग्यता की अपेक्षा से १४८ (औपशमिक सम्यक्त्वी, क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी अचरम शरीरी की अपेक्षा से) (क) चरम शरीर (क्षपक) चतुर्थ गुणस्थानवर्ती के तीन आयु की सत्ता न रहने से १४५ प्र० (ख) क्षायिक सम्यक्त्वी, अचरम शरीरी के अनन्ता० चतुष्क व दर्शनत्रिक की सत्ता नही रहती अत. १४८—७=१४१ प्र० (ग) उपशम श्रेणी (विसयोजना—जो कर्म प्रकृतियाँ वर्तमान मे तो किसी दूसरी प्रकृतियो मे सक्रमित करदी गई हो, वर्तमान मे तो उनकी सत्ता नही है, परन्तु फिर से उनकी सत्ता सभव हो) की अपेक्षा से १४८ । अनन्तानु-वंधी चतुष्क व दर्शनत्रिक के न्यून होने पर १४१

(घ) चरम शरीरी की अपेक्षा से (क्षायिकसम्यक्त्वी) अनन्ता० ४, दर्शनत्रिक ३ आयु ३ के कम करने पर १३८ प्र० की ।

५	देशविरत	मूल ८ — उ० चौथे गुणस्थान के सदृश संभव सत्ता की अपेक्षा से (योग्यता से) १४८ क वत् १४५ ख वत् १४१ ग वत् १४१ घ वत् १३८
६	प्रमत्तविरत	मूल ८ — उ० चौथे गुणस्थान के सदृश संभव सत्ता की अपेक्षा से (योग्यता से) १४८ क वत् १४५ ख वत् १४१ ग वत् १४१ घ वत् १३८
७	अप्रमत्त विरत	मूल ८ — उ० चौथे गुणस्थान के सदृश सभव सत्ता की अपेक्षा १४८ क वत् १४५ ख वत् १४१ ग वत् १४१ घ वत् १३८
८	अपूर्वकरण	मूल ८ — उ० १४८, १४२, १३९, १३८ सभवसत्ता की अपेक्षा से (योग्यता से) १४८। अनन्तानुबधी व नरकायु, तिर्यचायु वाला उपशम श्रेणी नही कर सकता इस अपेक्षा १४२ । अनन्तानुबंधी चतुष्क, दर्शनत्रिक (विसंयोजना) नरक व तिर्यचायु इन ९ प्रकृतियो को कम करने से १३९ ।

(पंच सग्रह मे कहा है कि अनन्तानुबधी चतुष्क की विसंयोजना बिना जीव उपशम श्रेणी पर आरूढ नही हो सकता। सर्वमत है कि नरक व तिर्यंच आयुकर्म की सत्ता वाला उपशम श्रेणी ही नही चढ सकता।)

ध वत् १३८

९ अनिवृत्तिकरण

मूल ८ उ० १४८ अंतिम १०३

संभव सत्ता की अपेक्षा १४८

उपशम श्रेणी मे अनन्तानुबंधी चतुष्क और नरक तिर्यंचायु की सत्ता न रहने पर १४८—६=१४२।

उपशम श्रेणी में अनन्तानुबधी चतुष्क और दर्शनत्रिक की विसयोजना व नरक तिर्यंचायु का अभाव होने से १४८—७—२=१३९।

क्षपक श्रेणी में

भाग १ मे—अनन्तानुबंधी ४ दर्शनत्रिक आयु तीन की सत्ता न रहने से। १४८—१०=१३८

भाग २ मे—स्थावर द्विक, तिर्यंचद्विक नरकद्विक, आतप, उद्योत स्त्यानर्द्धित्रिक एकेन्द्रिय विकलेन्द्रियत्रिक, साधारण नामकर्म की सत्ता नही रहती १३८—१६=१२२

भाग ३ मे—दूसरे भाग के अंत में अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, प्रत्याख्यानावरण चतुष्क की सत्ता क्षय हो जाती है। १२२—८=११४

भाग ४ मे—तीसरे भाग के अत मे नपुसकवेद का क्षय हो जाने से। ११४—१=११३

भाग ५ मे—चौथे भाग के अत में स्त्रीवेद का क्षय हो जाने से । ११३—१=११२

भाग ६ मे—पाचवे भाग के अत मे हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा का क्षय होने से । ११२—६=१०६

भाग ७ मे—छठे भाग के अतसमय मे पुरुष वेद का क्षय होने से १०६—१=१०५

भाग ८ मे—सातवे भाग के अत मे सज्वलन क्रोध का क्षय होने से । १०५—१=१०४

भाग ९ मे—आठवे भाग के अत मे सज्वलन मान का क्षय होने से १०४—१=१०३ । नौवे भाग के अंत मे सज्वलन माया का क्षय होने से १०२ प्रकृतिया जो १०वें की सत्ता है ।

१० सूक्ष्मसंपराय मूल ८ उ० १४८, अंतिम १०२

समव सत्ता की अपेक्षा से १४८
उपशम श्रेणी मे अनन्तानुबधी चतुष्क व नरक तिर्यचायु को कम करने से (विसयोजना से)। १४८—६=१४२ **उपशम श्रेणी में** (नौवे गुणस्थानवत) १३९ ।

क्षपकश्रेणी में

१०२, दसवे गुणस्थान के अंतिम समय में सज्वलन लोभ का क्षय होने से शेष रही १०१ प्रकृतियाँ जो वारहवे गुणस्थान के प्रथम समय मे है ।

११ उपशान्तमोह मूल ८ उ० १४८, १४२, १३८

सभवसत्ता की अपेक्षा १४८

उपशम श्रेणी, अनन्तानुबंधी चतुष्क व नरकायु तिर्यंचायु घटाने से । १४८—६=१४२
उपशम श्रेणी में १३८
(इस गुणस्थान मे क्षपक श्रेणी नही होती है ।)

१२ क्षीणमोह मूल ७ उ० १०१
द्विचरम समय मे निद्रा व प्रचला का क्षय होने से ।
१०१—२=९९
अतिम समय मे ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ४ और अंतराय ५ का क्षय होने से ९९—१४=८५ जो तेरहवे गुणस्थान की सत्ता प्रकृतिया है ।
(इस गुणस्थान मे उपशम श्रेणी नही होती ।)

१३ सयोगि केवली मूल ४ उ० ८५
८५ प्रकृतिया चौदहवे गुणस्थान के द्विचरम समय मे क्षय होने वाली ७२ प्रकृतियाँ एव अत समय मे क्षय होने वाली १२ प्रकृतिया तथा सातावेद० या असातावेदनीय मे से कोई एक ।

१४ अयोगि केवली मूल ४ उ० १२/१३
चौदहवे गुणस्थान के द्विचरम समय पर्यन्त जो ८५ प्रकृतियो की सत्ता रहती है उसमे से द्विचरम समय मे—
देवद्विक, खगतिद्विक, शरीरनाम ५, बधननाम ५, सघातन ५, निर्माण, संहनन ६, अस्थिरषटक्, सस्थान ६, अगुरुलघु चतुष्क अपर्याप्तनाम, साता या असाता वेदनीय, प्रत्येकत्रिक, अंगोपाग ३, सुस्वरनाम, नीच गोत्र=७२ प्रकृतियो की सत्ता का अभाव हो जाता है । चौदहवे गुणस्थान के अंतिम समय मे—मनुष्यत्रिक, त्रसत्रिक यश:कीर्तिनाम, आदेयनाम, सुभग, तीर्थंकरनाम, उच्चगोत्र, पचेन्द्रियजाति, साता या असाता वेदनीय मे से कोई एक १३ प्रकृतियो का अभाव हो जाने से आत्मा मुक्त हो जाती है ।

श्रीमरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति

(प्रवचन प्रकाशन विभाग)

सदस्यों की शुभ नामावली

विशिष्ट सदस्य

१ श्री घीसुलाल जी मोहनलाल जी सेठिया, मैसूर
२ श्री वच्छराज जी जोधराज जी सुराणा, सेला (सोजत-सिटी)
३ श्री रेखचन्द जी साहव राका, मद्रास (वगड़ी-नगर)
४ श्री वलवंतराज जी खाटेड, मद्रास (वगडी-नगर)
५ श्री नेमीचन्द जी बॉठिया, मद्रास (वगडी-नगर)
६ श्री मिश्रीमल जी लूकड, मद्रास (वगड़ी-नगर)
७ श्री माणकचन्द जी कात्रेला, मद्रास (वगडी-नगर)
८ श्री रतनलाल जी केवलचन्द जी कोठारी मद्रास (निम्बोल)
९ श्री अनोपचन्द जी किशनलाल जी वोहरा, अटपडा
१० श्री गणेशमल जी खीवसरा, मद्रास (पूजलू)
११ शा० रतनलाल जी पारसमल जी चतर, चतर एण्ड कम्पनी, व्यावर
१२ शा० वस्तीमल जी वोहरा C/o सिरेमल जी धुलाजी, गाणो की गली उदयपुरिया वाजार, पाली
१३ शा० आलमचद जी भैरुलाल जी राका, सिकन्द्रावाद, रायपुर
१४ शा० धूलचद जी अभयराज जी वोरुदिया, वलुदा (मारवाड)

प्रथम श्रेणी

१ मै० वी. सी ओसवाल, जवाहर रोड, रत्नागिरी (सिरियारी)
२ शा० इन्दरसिंह जी मुनोत, जालोरी गेट, जोधपुर

३ शा० लादूराम जी छाजेड़, ब्यावर (राजस्थान)

४ शा० चपालाल जी डूगरवाल, नगरथपेठ, बेगलोर सिटी (करमावास)

५ शा० कामदार प्रेमराज जी, जुमामस्जिद रोड, बेगलोर सिटी (चावडिया)

६ शा० चादमल जी मानमल जी पोकरना, पेरम्बूर मद्रास, ११ (चावडिया)

७ जे० वस्तीमल जी जैन, जयनगर, वेगलोर ११ (पूजलू).

८ शा० पुखराज जी सीसोदिया, ब्यावर

९ शा० वालचद जी रूपचद जी बाफना,
११८।१२० जवेरी बाजार बम्बई–२ (सादडी निवासी)

१० शा० बालावगस जी चपालाल जी बोहरा, राणीवाल

११ शा० केवलचद जी सोहनलाल जी बोहरा राणीवाल

११ शा० अमोलकचद जी धर्मीचद जी आच्छा, वडाकाचीपुरम्,मद्रास
(सोजत रोड)

१३ शा० भूरमल जी मीठालाल जी वाफना, तिरकोयलूर, मद्रास (आगेवा)

१४ शा० पारसमल जी कावेडिया, आरकाट, मद्रास (सादडी)

१५ शा० पुखराज जी अनराज जी कटारिया, आरकोनम्, मद्रास (सेवाज)

१६ शा० सिमरतमल जी सखलेचा, मद्रास (वीजाजी का गुडा)

१७ शा० प्रेमसुख जी मोतीलाल जी नाहर, मद्रास (कालू)

१८ शा० गूदडमल जी शातिलाल जी तलेसरा, एनावरम्, मद्रास

१९ शा० चपालाल जी नेमीचद, जवलपुर (जैतारण)

२० शा० रतनलाल जी पारसमल जी चतर, ब्यावर

२१ शा० सम्पतराज जी कन्हैयालाल जी मूथा, कूपल (मारवाड-मादलिया)

२२ शा० हीराचद जी लालचद जी धोका, नक्सावाजार, मद्रास

२३ शा० नेमीचद जी धर्मीचद जी आच्छा, चगलपेट, मद्रास

२४ शा० एच० घीमुलाल जी, पोकरना, एण्ड सन्स, आरकाट—N A D T
(वगडी-नगर)

२५ शा० घीमुलाल जी पारसमल जी सिंघवी, चागलपेट, मद्रास

२६ शा० अमोलकचद जी भवरलाल जी विनायकिया, नक्शावाजार, मद्रास

२७ शा० पी० बीजराज नेमीचद जी धारीवाल, तीरुवेलूर

२८ शा० रूपचद जी माणकचद जी बोरा, बुशी
२९ शा० जेठमल जी राणमल जी सर्राफ, बुशी
३० शा० पारसमल जी सोहनलाल जी सुराणा कुभकोणम्, मद्रास
३१ शा० हस्तीमल जी मुणोत, पॉटमार्केट सिकन्द्राबाद (आन्ध्र)
३२ शा० देवराज जी मोहनलाल जी चौधरी, तीरुकोईलूर, मद्रास
३३ शा० वच्छराज जी जोधराज जी सुराणा, सोजतसिटी
३४ शा० गेवरचद जी जसराज जी गोलेछा, बैंगलोर सिटी
३५ शा० डी० छगनलाल जी नौरतमल जी बब, बैंगलोर सिटी
३६ शा० एम० मगलचद जी कटारिया, मद्रास
३७ शा० मगलचद जी दरडा C/o मदनलाल जी मोतीलाल जी,
शिवराम पैठ, मैसूर
३८ पी० नेमीचद जी धारीवाल, N क्रास रोड, राबर्टसन पेठ, K G.F.
३९ शा० चपालाल जी प्रकाशचद जी छलाणी न० ५७ नगरथ पैठ, बैंगलूर–२
४० शा० आर विजयराज जागड़ा, न० १ क्रास रोड, राबर्टसन पेट K G F
४१ शा० गजराज जी छोगमल जी, रविवार पेठ ११५३, पूना
४२ श्री पुखराज जी किशनलाल जी तातेड, पॉट-मार्केट, सिकन्द्राबाद––A.P.
४३ श्री केसरीमल जी मिश्रीमल जी आच्छा, वालाजावाद-मद्रास
४४ श्री कालूराम जी हस्तीमल जी मूथा, गाधीचौक रायचूर
४५ श्री बस्तीमल जी बोहरा C/o सीरेमल जी धुलाजी गाणो की गली, उदय-
पुरिया बाजार, पाली
४६ श्री मुकनराज जी भोपालचद जी पगारिया, चिकपेट, बैंगलोर
४७ श्री बिरदीचद जी लालचद जी मरलेचा, मद्रास
४८ श्री उदयराज जी केवलचद जी बोहरा, मद्रास (वर)
४९ श्री भंवरलाल जी जवरचद जी दूगड, कुरडारा
५० शा० मदनचद जी देवराज जी दरडा, १२ रामानुजम् अयर स्ट्रीट
मद्रास १
५१ शा० सोहनलाल जी दूगड, ३७ कालाती पीले-स्ट्रीट, साहूकार पेट, मद्रास-१
५२ शा० धनराज जी केवलचद जी, ५ पुडुपेट स्ट्रीट, आलन्दुर, मद्रास १६

५३ शा० जेठमल जी चोरडिया C/o महावीर ड्रग हाऊस न १४ वानेश्वरा टेम्पल-स्ट्रीट ५ वा क्रोस आरकाट श्रीनिवासचारी रोड, पो० ७६४४, वैंगलोर ५३

५४ शा० सुरेन्द्र कुमार जी गुलाबचद जी गोठी मु० पो० घोटी, जि० नासिक (महाराष्ट्र)

५५ शा० मिश्रीमल जी उत्तमचद जी ४२४/३ चीकपेट-बेंगलोर २ A

५६ शा० एच० एम० काकरिया २९९, O P H रोड, बेंगलोर १

५७ शा० सन्तोशचंद जी प्रेमराज जी सुराणा मु० पो० मनमाड़ जि० नासिक (महाराष्ट्र)

५८ शा० जुगराज जी जवाहरलाल जी नाहर नेहरू बाजार न० १६ श्रीनिवास अयर स्ट्रीट, मद्रास १

५९ मदनलाल जी राका (वकील) ब्यावर

६० पारसमल जी राका C/o वकील भवरलाल जी राका ब्यावर

६१ शा० धनराज जी पन्नालाल जी जागडा नयामोडा, जालना (महाराष्ट्र)

६२ शा० एम० जवाहरलाल जी वोहरा ६९ स्वामी पन्डारम् स्ट्रीट, चीन्ताधर-पेट, मद्रास २

६३ शा० नेमीचद जी आनन्दकुमार जी राका C/o जोहरीलाल जी नेमीचद जी जैन, वापूजी रोड, सलूरपेठ (A P)

६४ शा० जुगराज जी पारसमल जी छोदरी, २५ नारायण नायकन स्ट्रीट पुडुपेट मद्रास २

६५ चैनराज जी सुराणा गाधी वाजार, शिमोगा (कर्नाटक)

६६ पी० वस्तीमल जी मोहनलाल जी वोहरा (जाडण) रावर्टसन पेठ (K G F)

६७ सरदारमल जी उमरावमल जी सचेती, सरदारपुरा (जोधपुर)

६८ चपालाल जी मीठालालजी सकलेचा, जालना (महाराष्ट्र)

६९ पुखराज जी ज्ञानचदजी मुणोत, मद्रास

७० मपतराज जी प्यारेलाल जी जैन, मद्रास

७१ चपालाल जी उत्तमचंद जी गाधी जवाली, मद्रास

७२ पुखराज जी किशनलाल जी तातेड़, सीकन्द्राबाद (रायपुर वाले)

द्वितीय श्रेणी

१ श्री लालचद जी श्रीश्रीमाल ब्यावर
२ श्री सूरजमल जी इन्दरचद जी सकलेचा, जोधपुर
३ श्री मुन्नालाल जी प्रकाशचद जी नम्वरिया, चौधरी चौक, कटक
४ श्री घेवरचद जी रातडिया, राबर्टसनपेठ
५ श्री वगतावरमल जी अचलचद जी खीवसरा ताम्वरम्, मद्रास
६ श्री छोतमल जी सायबचद जी खीवसरा, बौपारी
७ श्री गणेशमल जी मदनलाल जी भडारी, नीमली
८ श्री माणकचद जी गुलेछा, ब्यावर
९ श्री पुखराज जी बोहरा, राणीवाल वाला हाल मुकाम-पीपलिया कलाँ
१० श्री धर्मीचद जी बोहरा, जुठावाला हाल मुकाम-पीपलिया कलाँ
११ श्री नथमल जी मोहनलाल जी लूणिया, चडावल
१२ श्री पारसमल जी शान्तीलाल जी ललवाणी, बिलाडा
१३ श्री जुगराज जी मुणोत मारवाड जकशन
१४ श्री रतनचद जी शान्तीलाल जी मेहता, सादडी (मारवाड)
१५ श्री मोहनलाल जी पारसमल जी भडारी, बिलाडा
१६ श्री चपालाल जी नेमीचद जी कटारिया, विलाडा
१७ श्री गुलावचद जी गभीरमल जी मेहता, गोलवड
[तालुका डेणु—जिला थाणा (महाराष्ट्र)]
१८ श्री भवरलाल जी गौतमचद जी पगारिया, कुशालपुरा
१९ श्री चनणमल जी भीकमचद जी राका, कुशालपुरा
२० श्री मोहनलाल जी भंवरलाल जी बोहरा, कुशालपुरा
२१ श्री सतोकचद जी जवरीलाल जी जामड,
१४६ वाजार रोड, मदरानंगतम
२३ श्री कन्हैयालाल जी गादिया, आरकोणम्
२३ श्री धरमीचद जी ज्ञानचद जी मूथा, वगडीनगर
२४ श्री मिश्रीमल श्री नगराज जी गोठी, विलाडा

२५ श्री दुलराज इन्दरचद जी कोठारी
११४, तैयप्पा मुदली स्ट्रीट, मद्रास-१
२६ श्री गुमानलाल जी मागीलाल जी चौरडिया चिन्ताधरी पैठ मद्रास-१
२७ श्री सायरचद जी चौरडिया, ६० एलीफेन्ट गेट मद्रास-१
२८ श्री जीवराज जी जबरचद जी चौरडिया, मेडतासिटी
२९ श्री हजारीमल जी निहालचद जी गादिया, १६२ कोयम्वतूर, मद्रास
३० श्री केसरीमल जी झूमरलाल जी तलेसरा, पाली
३१ श्री धनराज जी हस्तीमल जी आच्छा, मु० कावेरी पाक
३२ श्री सोहनराज जी शान्तिप्रकाश जी सचेती, जोधपुर
३३ श्री चपालाल जी भवरलाल जी सुराना, कालाऊना
३४ श्री मागीलाल जी शकरलाल जी भसाली,
२७ लक्ष्मीअमन कोयल स्ट्रीट, पैरम्बूर मद्रास-१२
३५ श्री हेमराज जी शान्तिलाल जी सिधी,
११ वाजार रोड, राय पेठ मद्रास-१४
३६ शा० अम्बूलाल जी प्रेमराज जी जैन, गुडियातम
३७ शा० रामसिह जी चौधरी, व्यावर
३८ शा० प्रतापमल जी मगराज जी मलकर—केसरीसिह जी का गुडा
३९ शा० सपतराज जी चौरडिया, मद्रास
४० शा० पारसमल जी कोठारी, मद्रास
४१ शा० भीकमचन्द जी चौरडिया, मद्रास
४२ शा० शान्तिलाल जी कोठारी, उतशेटे
४३ शा० जव्वरचन्द जी गोकलचन्द जी कोठारी, व्यावर
४४ शा० जवरीलाल जी धरमीचन्द जी गादिया, लाविया
४५ श्री सेममल जी धारीवाल, वगडीनगर (राज०)
४६ जे० नौरतनमल जी वोहरा, १०१८ के० टी० स्ट्रीट, मैसूर-१
४७ उदयचन्द जी नौरतमल जी मूथा
C/o हजारीमल जी विरधीचन्द जी मूथा, मेवाडी वाजार व्यावर
४८ हस्तीमल जी तपस्वीचन्द जी नाहर, पो० कौमाना (जोधपुर)
४९ श्री आर० पारसमल जी लूणावत ४१-वाजार रोड, मद्रास

५० श्री मोहनलाल जी मीठालाल जी, वम्वई-३

५१ श्री पारसमल जी मोहनलाल जी पोरवाल, वेगलोर

५२ श्री मीठालाल जी ताराचन्द जी छाजेड, मद्रास

५३ श्री अनराज जी शान्तिलाल जी विनायकिया, मद्रास-११

५४ श्री चान्दमल जी लालचन्द जी ललवाणी, मद्रास-१४

५५ श्री लालचन्द जी तेजराज जी ललवाणी, त्रिकयोलूर

५६ श्री सुगनराज जी गौतमचन्द जी जैन, तमिलनाडु

५७ श्री के० मागीलाल जी कोठारी, मद्रास-१६

५८ श्रो एस० जवरीलाल जी जैन, मद्रास-५२

५९ श्री केसरीमल जी जुगराज जी सिघवी, वैगलूर-१

६० श्री सुखराज जी शान्तिलाल जी साखला, तीरुवल्लुर

६१ श्री पुकराज जी जुगराज जी कोठारी, मु० पो० चावडिया

६२ श्री भवरलाल जी प्रकाशचन्द जी वग्गाणी, मद्रास

६३ श्री रूपचन्द जी बाफणा चडावल

६४ श्री पुखराज जी रिखवचन्द जी राका, मद्रास

६५ श्री मानमल जी प्रकाशचन्द जी चौरडिया, पीचियाक

६६ श्री भीखमचन्द जी शोभागचन्द जी लूणिया, पीचियाक

६७ श्री जैवतराज जी सुगमचन्द जी वाफणा, वेगलोर (कुशालपुर।)

६८ श्री घेवरचन्द जी भानीराम जी चाणोदिया, मु० इसाली

६९ शा० नेमीचन्द जी कोठारी न० १२ रामानुजम अयर स्ट्रीट मद्रास-१

७० शा० मागीलाल जी सोहनलाल जी रातडीआ C/o नरेन्द्र एथर्टरी कस स्टोर, चीकपेट, वेगलोर-४

७१ शा० जवरीलाल जी सुराणा अलन्दुर, मद्रास १६

७२ शा० लुमचन्द जी मगलचन्द जी तालेडा अशोका रोड, मैसूर

७३ शा० हसराजजी जसवन्तराजजी सुराणा मु० पो० सोजतसिटी

७४ शा० हरकचन्दजी नेमीचन्दजी भनसाली मु० पो० घोटी जि० ईगतपुरी (नासिक, महाराष्ट्र)

७५ शा० समीरमलजी टोडरमलजी छोदरी फलो का वास मु० पो० जालोर

७६ शा० बी० सजनराजजी पीपाड़ा मारकीट कुनुर जि० नीलगिरी (मद्रास)
७७ शा० चम्पालालजी कान्तीलालजी अन्ड० कुन्टे न० ४५८६७७/१४१भवानी शकर रोड वीसावा बिल्डिग, दादर बोम्बे न० २८
७८ शा० मिश्रीमलजी बीजेराजजी नाहर मु० पो० वायद जि० पाली (राज०)
७९ शा० किसोरचन्द जी चादमलजी सोलकी C/o K. C Jain 14 M C. Lain II Floor 29 Cross Kilai Road Banglore 53
८० शा० निरमलकुमारजी मागीलाल जी खींवसरा ७२ धनजी स्ट्रीट पारसी गली, गनपत भवन, बम्बई ३
८१ श्रीमती सोरमबाई धर्मपत्नी पुकराजजी मुनोत मु० पो० राणावास
८२ शा० एच० पुकराजजी जैन (बोपारी) मु० पो० खरताबाद हैदरावाद ५००००४
८३ शा० सुगालचन्द जी उतमचन्दजी कटारीया रेडीलस, मद्रास ५२
८४ शा० जवरीलालजी लुकड़ (कोटडी) C/o घमडीराम सोहनराज अन्ड क० ४८६/२ रेवड़ी बाजार अहमदावाद-२
८५ शा० गौतमचन्द जी नाहटा (पीपलीया) न० ८, वाटु पलीयार कोयल स्ट्रीट साहुकार पेट, मद्रास १
८६ शा० नथमलजी जवरीलालजी जैन (पटारीक्रमावस) वस स्टेण्ड रोड यहलका वेगलोर (नार्थ)
८७ शा० मदनलालजी छाजेड मोती ट्रेडर्स १५७ ओपनकारा स्ट्रीट,कोयम्वतूर (मद्रास)
८८ शा० सीमरथमलजी पारसमलजी कातरेला जूना जेलखाना के सामने सिकन्द्रावाद (A P)
८९ शा० एम० पुकराजजी अण्ड कम्पनी क्रास वाजार दूकान नं० ९, कुनूर (नीलगिरी)
९० शा० चम्पालालजी मूलचन्दजी नागोतरा सोलकी मु० पोस्ट—राणा वाया-पाली (राजस्थान)
९१ शा० वस्तीमलजी सम्पतराजजी खारीवाल (पाली) C/o लक्ष्मी इलैक्ट्रीकल्स न० ९५ नेताजी सुभाषचन्द रोड, मद्रास १

९२ मोणकचन्द जी ललवानी (मेडतासिटी) मद्रास
९३ मागीलालजी टीपरावत (ठाकरवास) मद्रास
९४ सायरचन्द जी गाधी पाली (मारवाड)
९५ मागीलालजी लुणावत, उदयपुर (राज०)
९६ सरदारचन्दजी अजितचन्दजी भडारी, त्रिपोलीया वाजार (जोधपुर)
९७ सुगालचन्दजी अनराजजी मूथा मद्रास
९८ लालचन्दजी सपतराजजी कोठारी, वेगलोर
९९ माणकचन्दजी महेन्द्रकुमारजी ओस्तवाल, वेगलोर
१०० वक्तावरमलजी अनराजजी छलाणी (जैतारण) रावर्टसन पेठ K G F

तृतीय श्रेणी

१ श्री नेमीचन्द जी कर्णावट, जोधपुर
२ श्री गजराज जी भडारी, जोधपुर
३ श्री मोतीलाल जी सोहनलाल जी वोहरा, व्यावर
४ श्री लालचन्द जी मोहनलाल जी कोठारी, गोठन
५ श्री सुमरेमल जी गाधी, सिरियारी
६ श्री जवरचन्द जी वम्ब, सिन्धनूर
७ श्री मोहनलाल जी चतर, व्यावर
८ श्री जुगराज जी भवरलाल जी राका, व्यावर
९ श्री पारसमल जी जवरीलाल जी धोका, सोजत
१० श्री छगनमल जी वस्तीमल जी वोहरा, व्यावर
११ श्री चनणमलजी थानमल जी खीवसरा, मु० वोपारा
१२ श्री पन्नालाल जी भवरलाल जी ललवाणी, विलाड़ा
१३ श्री अनराज जी लखमीचन्द जी ललवाणी, आगेवा
१४ श्री अनराज जी पुखराज जी गादिया, आगेवा
१५ श्री पारसमल जी धरमीचन्द जी जागड, विलाड़ा
१६ श्री चम्पालाल जी धमीचन्द जी खारीवाल, कुशालपुरा
१७ श्री जवरचन्द जी शान्तिलाल जी वोहरा, कुशालपुरा
१८ श्री चम्पालाल जी हीराचन्द जी गुन्देचा, सोजतरोड

१९ श्री हिम्मतलाल जी प्रेमचन्द जी साकरिया, साडेराव
२० श्री पुखर[illegible]रिखवाजी साकरिया, साडेराव
२१ श्री वाबूलाल [illegible] [illegible]द जी वरलोटा, फालना स्टेशन
२२ श्री मागीलाल जी सोहनराज जी राठोड, सोजत रोड
२३ श्री मोहनलाल जी गाधी, केसरसिह जी का गुडा
२४ श्री पन्नालाल जी नथमल जी भसाली, जाजणवास
२५ श्री शिवराज जी लालचन्द जी वोकडिया, पाली
२६ श्री चान्दमल जी हीरालाल जी वोहरा, व्यावर
२७ श्री जसराज जी मुन्नीलाल जी मूथा, पाली
२८ श्री नेमीचन्द जी भवरलाल जी डक, सारण
२९ श्री ओटरमल जी दीपाजी, साडेराव
३० श्री निहालचन्द जी कपूरचन्द जी, साडेराव
३१ श्री नेमीचन्द जी शातिलाल जी सिसोदिया, इन्द्रावड
३२ श्री विजयराज जी आणदमल जी सिसोदिया, इन्द्रावड
३३ श्री [illegible]णकरण जी पुखराज जी लूकड, विग-वाजार, कोयम्वतूर
३४ श्री किस्तूरचन्द जी सुराणा, कालेजरोड कटक (उडीसा)
३५ श्री मूलचन्द जी वुधमल जी कोठारी, वाजार स्ट्रीट, मन्डिया (मैसूर)
३६ श्री चम्पालाल जी गौतमचन्द जी कोठारी, गोठन स्टेशन
३७ श्री कन्हैयालाल जी गौतमचन्द जी कॉकरिया, मद्रास (मेडतासिटी)
३८ श्री मिश्रीमल जी साहिवचन्द जी गाँधी, केसरसिह जी का गुड़ा
३९ श्री अनराज जी वादलचन्द जी कोठारी, खवासपुरा
४० श्री चम्पालाल जी अमरचद जी कोठारी, खवासपुरा
४१ श्री पुखराज जी दीपचद जी कोठारी, खवामपुरा
४२ शा० मालममीग जी ढावरिया, गुलावपुरा
४३ शा० मिट्ठाल‌ाल जी कातरेला, वगडीनगर
४४ शा० पारसमल जी लक्ष्मीचद जी काठेड व्यावर
४५ शा० धनराज जी महावीरचन्द जी खीवसरा, वैंगलोर-३०
४६ शा० पी० एम० चौरडिया, मद्रास
४७ शा० अमरचन्द जी नेमीचन्द जी पारसमल जी नागौरी,, मद्रास

४८ शा० बनेचन्द जी हीराचंद जी जैन, सोजतरोड, (पाली)
४९ शा० झूमरमल जी मागीलाल जी गूंदेचा, सोजतरो‍ (‍‍‍‍‍‍‍‍ ‍ ‍ली)
५० श्री जयन्तीलाल जी सागरमल जी पुनमिया,
५१ श्री गजराज जी भडारी एडवोकेट, वाली
५२ श्री मागीलाल जी रैड, जोधपुर
५३ श्री ताराचद जी बम्ब, व्यावर
५४ श्री फतेहचन्द जी कावडिया, व्यावर
५५ श्री गुलाबचन्द जी चोरडिया, विजयनगर
५६ श्री सिधराज जी नाहर, व्यावर
५६ श्री गिरधारीलाल जी कटारिया, सहबाज
५८ श्री मीठालाल जी पवनकवर जी कटारिया, सहवाज
५९ श्री मदनलाल जी सुरेन्द्रराज जी ललवाणी, बिलाडा
६० श्री विनोदीलाल जी महावीरचद जी मकाणा, व्यावर
६१ श्री जुगराज जी सम्पतराज जी बोहरा, मद्रास
६२ श्री जीवनमल जी पारसमल जी रेड, तिरुपति (आ० प्रदेश)
६३ श्री वकतावरमल जी दानमल जी पूनमिया, सादडी (मारवाड)
६४ श्री मैं० चदनमल पगारिया, औरगाबाद
६५ श्री जवतराज जी सज्जनराज जी दुगड, कुरडाया
६६ श्री वी० भवरलाल जैन, मद्रास (पाटवा]
६७ श्री पुखराज जी कन्हैयालाल जी मूथा, वेडकला
६८ श्री आर० प्रसन्नचद चोरडिया, मद्रास
६९ श्री मिश्रीलाल जी सज्जनलाल जी कटारिया, सिकन्द्राबाद
७० श्री मुकनचद जी चादमल जी कटारिया, इलकल
७१ श्री पारसमल जी कातीलाल जी बोरा, इलकल
७२ श्री मोहनलाल जी भवरलाल जी जैन (पाली) बैंगलूर
७३ शा० जी० एम० मङ्गलचन्दजी जैन (सोजतसिटी) C/o मङ्गल टेक्सटाईलस २६/७८ फर्स्ट फ्लोर मूलचन्द मारकेट गोडाउन स्ट्रीट, मद्रास १
७४ श्रीमती रत्नकवर धर्मपत्नी शातीलालजी कटारिया C/o पृथ्वीराजजी प्रकाशचन्दजी फतेपुरियो की पोल मु० पो० पाली (राज०)

७५ शा० मगराज जी रूपचन्द खींवसरा C/o रूपचन्द-विमलकुमार पो० पेरमपालम, जिला चंगलपेट

७६ सा० माणकचदजी भवरीलाल जी पगारिया C/o नेमीचद मोहनलाल जैन १७ बिन्नी मिल रोड बेगलौर ५३

७७ शा० ताराचद जी जवरीलाल जी जैन कन्दोई बाजार जोधपुर (महामन्दिर)

७८ शा० इन्दरमलजी भण्डारी—मु० पो० नीमाज

७९ शा० भीकमचन्दजी पोकरणा १९ गोडाउन स्ट्रीट-मद्रास १

८० शा० चम्पालालजी रतनचन्दजी जैन (सेवाज)
C/o सी० रतनचन्द जैन—४०३/७ बाजार रोड रेडीलस—मद्रास ५२

८१ शा० मगराजजी माधोलालजी कोठारी मु० पो० बोरूंदा वाया पीपाड सिटी (राज०)

८२ शा० जुगराजजी चम्पालालजी नाहर C/o चन्दन इलक्टरीकल ६६५ चीकपेट, बेगलौर-५३

८३ शा० नथमलजी पुकराजजी मीठालालजी नाहर C/o हीराचन्द नथमल जैन No ८९ मैनरोड मुनीरडी पालीयम—बेगलौर—६

८४ शा० एच० मोतीलालजी सान्तीलालजी समदरिया सामराज पेट नं० ९८/७ क्रोस रोड, बेगलौर १८

८५ शा० मगलचदजी नेमीचदजी बोहरा C/o भानीराम गणेसमल एण्ड सन्स H० ५६ खलास पालीयस बेगलौर—२

८६ शा० धनराजजी चम्पालालजी समदरिया जी० १२९ मीलरोड बेगलोर—५३

८७ शा० मिश्रीलालजी फूलचन्दजी दरला C/o मदनलाल मोतीलाल जैन, सीवरामपेट, मैसूर

८८ शा० चम्पालालजी दीपचन्दजी सीगी (सीरीयारी) C/o दीपक स्टोर—हैदरगुड़ा ३/६/२९४/२/३ हैदराबाद (A P)

९० शा० जे० बीजेराजजी कोठारी W50 कीचयालेन काटन पेट बेगलौर—५३

९१ शा० बी० पारसमलजी सोलकी C/o श्री विनोद ट्रेडर्स राजास्ट्रीट कोयम्बतूर

९२ शा० कुशालचन्दजी रीखबचन्दजी सुराण। ७२६ सदरबाजार बोलारम (आ० प्र०)

९३ शा० प्रेमराजजी भीकमचन्दजी खीवसरा मु० पो० बोपारी वाया राणावास

९४ शा० पारसमलजी डक (सारन) C/o सायबचन्दजी पारसमल जैन म० न० १२/५/१४८ मु० पो० लालागुडा सिकन्द्राबाद (A. P.)

९५ शा० सोभाचन्दी प्रकाशचन्द जी गुगलीया C/o जुगराज हीराचन्द एण्ड क० मण्डीपेट—दावनगिरी—कर्णाटक

९६ श्रीमती सोभारानीजी राका C/o भवरलालजी राका मु० पो० ब्यावर

९७ श्रीमती निरमलादेवी राका C/o वकील भवरलालजी राका मु० पो० ब्यावर

९८ शा० जम्बूकुमार जैन दालमील भैरो बाजार बेलनगंज आगरा—४

९९ शा० सोहनलालजी-मेडतीया सिंहपोल मु० पो० जोधपुर

१०० भवरलालजी श्यामलालजी बोरा ब्यावर

१०१ चम्पालालजी काटेड पाली (मारवाड)

१०२ सम्पतराजजी जयचन्दजी सुराणा पाली मारवाड (सोजत)

१०३ हीराललजी खाबीया पाली मारवाड़

१०४ B चैनराजजी तातेड अलसुर बेंगलोर (बीलाडा)

१०५ रतनलालजी घीसुलालजी समदडीया, खडकी पूना

१०६ श्री० नितन्द्र कुमारजी जैन मु० पो० धार (म० प्र०)

हमारा महत्वपूर्ण साहित्य

प्रवचन-सुधा	५)
प्रवचन-प्रभा	५)
धवल ज्ञान धारा	५)
साधना के पथ पर	५)
जैनधर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण	१५)
दशवैकालिक सूत्र [व्याख्या पद्यानुवाद]	१५)
तकदीर की तस्वीर	—
कर्मग्रन्थ [प्रथम—कर्मविपाक]	१०)
कर्मग्रन्थ [द्वितीय—कर्मस्तव]	१०)
कर्मग्रन्थ [तृतीय—वन्ध-स्वामित्व]	१०)
तीर्थंकर महावीर	१०)
विश्ववन्धु वर्धमान	१)
सुधर्म प्रवचनमाला [१ से १०]	६)
[दस श्रमण-धर्म पर दस पुस्तकें]	